प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,

नई दिल्ली

●

पहली बार १९६६

मूल्य

तीन रुपये

●

मुद्रक

राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स

क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक से हिन्दी के पाठक भली भांति परिचित है। मडल से उनकी कई पुस्तके प्रकाशित हुई हैं। 'गाधीजी की छत्रछाया मे', 'डायरी के पन्ने', 'वापू', 'रूप और स्वरूप', 'ध्रुवोपाख्यान' आदि सभी पुस्तके लोकप्रिय हुई हैं और उनमे से कुछ के तो कई-कई सस्करण हो चुके है।

हमे हर्ष है कि लेखक की यह नई पुस्तक पाठको को सुलभ हो रही है। इसके कुछ सस्मरण तो विभिन्न पत्रो मे निकल चुके हैं, लेकिन 'वे दिन', 'मेरा शिक्षण' आदि हाल ही मे लिखे गये हैं।

लेखक की लेखन-शैली के विषय मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है। वह अत्यन्त प्रवाह और प्रभावपूर्ण है। प्राय सभी रचनाएँ इतनी मार्मिक हैं कि पाठक आरभ करके उन्हे विना समाप्त किये नही छोड सकता।

पुस्तक की सबसे वडी विशेषता यह है कि लेखक ने वडे-से-वडे से लेकर छोटे-से-छोटे व्यक्ति तक पर लेखनी चलाई है। एक ओर पाठको को गाधीजी, नेहरूजी, ठक्करवापा प्रभृति के सस्मरण पढने को मिलेगे तो दूसरी ओर उनका साक्षात्कार 'हीरा' और 'नाहरसिह' जैसे व्यक्तियो से भी होगा।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक का सभी क्षेत्रो मे स्वागत होगा।

—मत्री

विषय-सूची

कुछ देखा, कुछ सुना

: १ :

वे दिन

सवत् १९५१ की रामनवमी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिताजी का बानवे वर्ष की आयु मे शरीर गया और मेरी माता निन्नानवे वर्ष की अभी भी जीवित है। वैज्ञानिक कहते है कि दीर्घ आयु के इच्छुक को चाहिए कि जनमने से पहले ही लम्बी आयुवाले माता-पिता का चुनाव करे, या तो लम्बी आयु की अभिलाषा छोड दे। बतानेवालो ने यह नही बताया कि जनमनेवाला जनमने के पहले माता-पिता का चुनाव कैसे करे। पर कहनेवालो का तात्पर्य यह है कि दीर्घजीवी माता-पिता की सतान भी अक्सर दीर्घजीवी होती है। शरीर-शास्त्र-विदो की दृष्टि से इस प्रकार मैने दीर्घजीवी माता-पिता का चुनाव किया और यदि कोई दुर्घटना न हो तो माता-पिता की बदौलत मुझे एक लम्बी आयु का अच्छा पट्टा मिल गया है, ऐसा मान लेने मे कोई दोष नही है।

साधारणतया यह खयाल दिल मे उमग पैदा करता है, क्योकि लम्बी आयु का पट्टा हो तो मनुष्य कच्चे-पक्के कई मनसूबे बाँध सकता है और उनका स्वप्न ले सकता है। पर इस प्रश्न का एक और भी पहलू है। कभी-कभी यह भी सदेह होता है कि दीर्घायु, यह कोरे लाभ की ही कलम है या हानि की भी। आदमी बुड्ढा होकर मरे, यात्रा के अंतिम कदम

तक पूर्ण स्वस्थ रहे, दिमाग दुरुस्त हो, परिवार के लोग सुखी और सम्पन्न हो, सन्तान सपूत हो, तो अवश्य ही दीर्घायु एक दिलचस्प यात्रा बन जाती है। पर ऐसा न हो तब? ऐसा न हो, तो जीवन एक कठोर कारावास बन जाता है, जिससे मुक्ति पाने की आशा मे ही मनुष्य जीवन के दिनो को गिनता रहता है।

निष्कर्ष यह कि भगवान् सारी सुविधाएँ दे, तो लम्बी आयु एक आशीर्वाद है। इसमे मीन-मेख हो, तो वह शाप है।

पाण्डवो को यह शाप नसीब हुआ। महाभारत के अत मे कुटुब-नाश की पीडा उन्हे दुख देने लगी। जीवन नीरस और दुस्तर बन गया। बन्धु-बान्धव और परिजन सब लडाई मे काम आये। हर तरफ केवल विधवाएँ, बुड्ढे या रोगी ही दिखाई देने लगे। राज तो मिला, पर रसहीन। बन्धु-बान्धवो के अभाव मे विजय का मजा किसकी सगत मे भोगे! जीत सारी किरकिरी बन गई। बुढापा भी आने लगा, तब संसार और भी सूना लगने लगा। ऐसे नीरस ससार मे युधिष्ठिर और सब भाइयो ने हिमालय पर चढकर जीवन त्यागने का सकल्प किया।

बुढापा और मौत किसीका पक्ष नही करते। राजा-रक किसीको इन्होने नही छोडा। कृष्ण भी इनका मुकाबला नही पाये। युधिष्ठिर यह सब समझता था, इसलिए मृत्यु अपने-आये, उसके पहले ही उसने मृत्यु का साक्षात्कार करने-निश्चय किया।

यह सही कदम था। व्यास ने इसे अपघात नही बताया,

क्योकि अपघात क्षणिक आवेश मे आकर प्राण छोड देने को ही कह सकते हैं। अग्रेजी मे इस अवस्था को क्षणिक पागलपन भी कहते हैं। पर सोच-विचार और निश्चय के अनुसार की गई दृढ योजना और उसी योजना के अनुरूप रोजमर्रा की पहाड की थका देनेवाली चढाई, खाना-पीना सारा जारी, पर मर-मिटने की अमिट चाह और इस चाह को पूरी करने के लिए आक्सिजन-रहित स्थान पर हठ के साथ पहुँचना, यह अपघात नही, एक तरह के मृत्यु-योग की साधना समझनी चाहिए। योग का कोई एक प्रकार थोडे ही है! कर्मयोग है तो मृत्यु-योग भी क्यो नही!

जल-समाधि लेनेवाले भारत मे अनेक साधु-सन्यासी हुए हैं। पर उनका भी मानस क्षणिक होता है। मैने अपनी आँखो से जल-समाधि लेनेवाले एक सन्यासी को देखा है। आवेश मे आकर जल मे कूदे कि पीछे हटने की कोई गुजाइश नही रह जाती। पर पाण्डवो को तो हर घडी पीछे हटने की गुजाइश थी। किन्तु उन्हे तो धीरज और शान्ति के साथ एक ध्येय के लिए शरीर छोडना था। यह धीरज उनका देह-पात के समय तक कायम रहा।

मतलब यह था कि जबतक शरीर से कुछ भलाई हो, तबतक उसका सग रखना, और जब इसका अभाव हो तब त्याग कर देना। यही इस योग का मूल सूत्र था।

इस योजना मे सबसे पहले द्रौपदी गिरी और उसके बाद एक-एक करके अन्य भाई गिरते गए। पर युधिष्ठिर ने इन गिरनेवालो की तरफ मुँह तक मोडने का कष्ट नही किया।

न क्षोभ किया, न किया शोक या संताप। वह तो चलता ही रहा, क्योंकि यह सारा क्रम बुनियादी था और उसीके अनुसार ही घटना घटती जा रही थी। फिर क्या तो मुडना और क्यो शोक और संताप करना!

खैर, यह तो पाण्डवो की अन्तिम मृत्यु-योजना का विश्लेषण हुआ। बात तो यह है कि दीर्घायु, यह एक निर्मल आशीर्वाद नही है कि जिसकी ईश्वर से हर हालत मे मॉग की जाय। उपनिषद्कार ने कहा है कि सौ वर्ष तक हम काम करते-करते मरे। 'काम करते-करते मरे' इस निर्मल आशीर्वाद की पूर्वजो ने माँग की है।

पर दीर्घायु माता-पिता की सन्तान होना लाभ का एक पहलू तो है ही, जिसका मूल्य भुलाया नही जा सकता और उस मूल्य को समाज का कर्ज मानकर उस कर्ज को अदा भी करना, यही जीवन का लक्ष्य है। जीवन और लम्बी आयु, यह भगवान् की दी हुई धरोहर है।

मेरा जब जन्म हुआ तो मेरे माता-पिता सुखी और सम्पन्न थे। इसके कई वर्ष पहले मेरे पितामह ने धन उपार्जन कर लिया था। मेरे पिता के पितामह एक धनी परिवार के मुख्य मुनीम थे, जिनकी तनख्वाह शायद सात रुपया मासिक ी, तो भी उनका रुतबा और दर्जा काफी प्रतिष्ठित था। उस ` का सात रुपया माहवार कोई छोटी रकम नही मानी जाती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वह जमाना था। अजमेर और मऊ की छावनी मे बडे साहबो का निवास था और इनका

साहब लोगो से काफी सपर्क था। जब मेरे प्रपितामह मरे तो मेरे पितामह करीब सोलह साल के थे। मालिको ने इस जवान लडके को भी अपने पिता के स्थान पर नौकरी मे आजाने का प्रस्ताव किया, पर इनकी स्वतन्त्र प्रकृति और उच्चाभिलाषा के कारण नौकरी ने इन्हे आकर्षित नही किया और अपनी माता की इजाजत लेकर वह बम्बई की ओर अपना भाग्य आजमाने को चल पडे।

उन दिनो बम्बई जाना एक बडी समस्या थी। सुना है, पिलानी से निकटतम रेलवे-स्टेशन उन दिनो अहमदाबाद या इन्दौर था। मेरे पितामह ने अहमदाबाद के स्टेशन से बम्बई जानेवाली रेल पकडी। पिलानी से अहमदाबाद तक ऊँट पर सफर की। रास्ता उन दिनो विकट था। चोर, डाकुओ का खतरा था। इसलिए ऐसी यात्राएं एक समूह के साथ होती थी, जिसे 'सागा' कहते थे। दिनभर ऊंटो पर चलना और रात को किसी धर्मशाला मे या खुले मे पड़ाव डालकर पडा रहना, यह रोजमर्रा का क्रम था। पिलानी से अहमदाबाद पहुंचने मे शायद बीस रोज लगते थे। रास्ते मे तरह-तरह के दृश्य और भांति-भांति के लोगो से भेट, यह एक मजा था, जो आजकल रेल या हवाई जहाज की यात्रा मे नसीब नही होता।

बम्बई मे मेरे पितामह ने सात साल लगातार परिश्रम और ईमानदारी से व्यवसाय किया और फलस्वरूप कुछ धन-सचय भी किया। सात साल के बाद जब वह पिलानी वापस लौटे तो सचित धन से पहली बुनियाद हवेली की डाली और साथ ही एक कुआं और एक शिवालय की भी।

भगवान् को भोग लगाकर खाना चाहिए, यह उनका सिद्धान्त था। 'तेन त्यक्तेन भुजीथा.' यह उपनिषद् का वाक्य उन्होने नही पढा था, पर उनका विश्वास था कि भोग लगाकर खाने से भगवान् खानेवाले का भला करते है।

प्रथम यात्रा का सचित धन प्राय हवेली, कुआँ और शिवालय मे खर्च हो गया, तब फिर बम्बई की ओर प्रस्थान किया। कुछ साल बाद उन्होने अपनी स्वतन्त्र दूकान सराफा-धन्धे की खोल दी। बाद मे मेरे पिताजी ने धन्धे को उन्नत किया और इस तरह जब मेरा जन्म हुआ तो हमारा परिवार सम्पन्न और उस जमाने के माप-दण्ड के अनुसार धनी परिवारो मे एक अग्रसर परिवार हो गया था।

सपत्ति कोई अमिश्रित विभूति नही है। इसके दोनो पहलू है। लक्ष्मी की स्रोतधारा मे अमृत के साथ-साथ विष का प्रवाह भी बहता रहता है। 'जड-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार'—इस लिहाज से लक्ष्मी भी गुण-दोषमय है। दोष को ग्रहण करनेवाला स्रोत का विषैला हिस्सा पीकर मदमस्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है और अमृत पीनेवाला अमर बनता है। कलाकार स्वरो की सरगम पर अगुलियाँ रखकर मनमोहक स्वरो से लोगो के दिलो को मोह लेता है और अनाडी उसी सरगम से लोगो के कानो को आघात पहुँचाता है।

पर परिवार का सम्पन्न होना मेरे लिए घातक साबित नही हुआ, इसका कारण था हमारे परिवार की परम्परा।

मेरे पितामह और पिता दोनो सरल प्रकृति के, ईश्वर

मे श्रद्धा रखनेवाले, धर्मभीरु थे। उनकी जीवन-चर्या कठिन थी। एक तो वैसे ही मरुभूमि मे रहनेवालो का जीवन कष्टमय होता है, गर्मी मे बेहद गर्मी, जाडे मे बेहद जाडा। पानी का अभाव, आये-साल अकाल, ऊँटो की यात्रा, सब्जी और फलो का पूर्ण अभाव। सभ्य कही जानेवाली सभी चीजो से अलगाव। ऐसी स्थिति का ऐश-आराम से कोई नाता नही जुडता।

यदि राजस्थानी महज राजस्थान मे ही रहते तो जीवन-निर्वाह भी कठिन था, इसलिए बाहर परदेशो की यात्रा करना और वहाँ वर्षो तक बिना कुटुम्ब के रहना उनके लिए अनिवार्य था।

कलकत्ता-बम्बई का निवास भी इन लोगो के लिए सुखद नही था। बासे मे बीसो आदमियो के साथ सहवास, उनके साथ इकट्ठा खान-पान, एक-एक कमरे मे दस-दस आदमियो का शयनागार, पाखानो की तकलीफ और ऊपर से मच्छर और खटमल। ऐसे कठिन जीवन मे कमाई करके घर लौटना और वहाँ विश्राम करके फिर परदेश जाना, यह प्राय जीवन-भर का क्रम था।

घर-गृहस्थी तो सारी राजस्थान मे ही रहती थी। महिलाओ को भी यह जीवन असाधारण और दु खमय नही लगता था। ऐसे जीवन मे उछरनेवाले लोग शायद ही मदमस्त हो सकते है।

मेरे दादा और पिता गर्मी के मौसम मे जब दुपहरी मे विश्राम करते, तो हवेली के सदर दरवाजे की दो कोठरियो पर जो दुछत्ती थी, उसीपर खटिया डालकर दो घण्टे का

विश्राम करते थे। यह दुछत्ती कोई पाँच फुट लवी और चार फुट चौडी थी और आँगन से छ फुट ऊँची थी। इसपर चढने का कोई जीना भी नही था। एक लोहे की जजीर छत पर से लटकती थी, जिसको पकडकर एक पाँव दीवार मे पत्थर के आगडे पर रखकर, दूसरा पाँव दुछत्ती की छत पर पहुँच जाता था, और इस कसरत के वाद विश्राम होता था। अजीव तरीका था यह छत पर पहुँचने का। सारी उमर इस कला-वाजी से चढने मे विताई। कभी यह ख़याल नही आया कि जीना क्यो न वना लिया जाय। ऐसे कठोर जीवन की परम्परा मे मेरा जन्म हुआ, इसलिए परिवार सम्पन्न होते हुए भी मुझे सम्पदा के भयानक रूप देखने का अवसर ही नही मिला।

अव यह चीज वदल रही है। राजस्थानियो का निवास-स्थान कलकत्ता-वम्वई वन गया, न ऊँट रहे और न रहे मच्छर या खटमल। विजली-पखा तो है ही, एयरकडीशन भी आ गया। इसलिए धन के उपद्रव से आज की सतान भाग्य-शाली हो, तो ही वच सकती है।

मेरे लिए भी वचपन का जीवन उतना ही कठोर था, जितना कि अन्य राजस्थानी धनिको का होता है। वचपन मे वही अनुभव मुझे मिला, जो राजस्थान की परम्परा थी। मुझे भी वही गर्मी, सर्दी और ऊँट मिले। न मिले फल और न सब्जी। परदेश मे वही खटमल, वही मच्छर, वही वासा और वही पाखानो का क्लेश। जवानी आते-आते ये सव क्लेश गायव हो गए, पर जो स्वभाव एक मर्तवा वन गया, वह वन ही गया।

राजस्थानी धनिको और मध्यम श्रेणी के लोगो के जीवन की प्रचलित कठिनाई मे कोई देखनेलायक फर्क नही था। सभीका जीवन सहूलियतो के अभाव मे आज के माप-दण्ड से कष्टप्रद था। पर किसीमे इस कष्ट का अखरना नही देखा। अनिवार्य समझकर लोग इसको कष्ट नही मानते थे।

हर मनुष्य, चाहे जाडा हो या गर्मी, शौच के लिए एक-दो मील दूर जगल ही जाता था। धनिक वर्ग ने—उस जमाने के धनिक भी आज के मध्यम वर्ग के मुकावले मे गरीब कहलाये जा सकते है—कभी यह नही सोचा कि घर मे पाखाना और स्नान-घर क्यो न वना लिया जाय। ऐसी कल्पना ही एक क्रातिकारी विचार माना जा सकता था, और यदि कोई ऐसा कर लेता, तो ग्राम का समाज अवश्य ही उसे घृणा की नजर से देखता।

हमारा परिवार भी इसी कठोर राजस्थानी जीवन की परम्परा मे अकुरित हुआ और वढा। इसलिए हमारे जीवन-स्तर मे सिवा इसके कि हमारा मकान (हवेली) ठीक था, दो ऊँट थे, दो गाये थी, कपडा कुछ औरो से अच्छा था, औरो के मुकावले मे और कोई भिन्नता नही थी और न विभिन्नता की ख्वाहिश ही थी।

पर और परिवारो से हमारे परिवार मे कुछ विशेषता थी, और वह थी धर्म की भावना। मेरे पितामह और पिता, दोनों इस कठिन जीवन के साधक होने के अलावा उदार वृत्ति के भी थे और धर्म मे उनकी श्रद्धा थी। इसलिए मुझे भी उनकी ही राह का अनुसरण करना पडा।

बचपन से ही सुबह पाँच बजे उठ जाने की मेरी आदत डाल दी गई। सवेरे उठकर, निवृत्त होकर, दातून और स्नान से निवटकर, जो पहला काम करने के लिए पिताजी मुझे बाध्य करते थे, वह थी नित्य की पूजा। यह अनिवार्य थी। नौ साल का मैं हुआ तब तो मुझे एक चन्दन का बोटा, चकला, ताम्री, पचपातर, विष्णुसहस्र-नाम का गुटका, आसन और पूजा की सामग्री का एक झोला सौंप दिया गया था। सुबह सात बजे कि आसन पर बैठ गए, पिता और पितामह के साथ। पहले चन्दन-केशर साथ मे घिसकर तिलक लगाओ और उसके बाद विष्णुसहस्र-नाम का पूरा पाठ करो।

पाठ की यह हालत थी कि न तो मेरे पिताजी को शुद्ध पाठ आता था, न आता था मुझे। पर सामने जो गुटका था, उसपर से अट-सट जो बन पडता, तेज रफ्तार के साथ मैं पाठ करता ही जाता था। वह सारा-का-सारा अशुद्ध पाठ मुझे कण्ठाग्र हो गया। इन अशुद्धियो का पता तो तब लगा, जबकि मैं संस्कृत मे थोडी गटर-पटर करने लगा और जब पता लगा, तब तो मेरा पाठ का अभ्यास भी छूट गया था।

और भी कई यम-नियम पिताजी से मिले। ग्रहण मे कभी खटिया पर नही पडे रहना, और ग्रहण शुद्ध न हो तबतक भोजन न करना। ग्रहण मे छाया-पात्र का दान भी देना पडता था। श्रावण मे सोमवार का उपवास करके, शिव-पूजन करके फलाहार करना पडता था। इस शिव-पूजन और फलाहार मे मुझे काफी मजा आता था। पर जाडे के दिनो मे ग्रहण की वेला मे रात को खटिया से उतरना बहुत ही अखरता

था। कभी वीमार हो गया तो पिताजी महामृत्युजय का जाप करवा देते थे और उसका सकल्प देना पडता था। वुखार हो तो भी समय की सधि मे खटिया पर नही लेटना, यह भी एक कडा नियम था, जो काफी अखरता था। ज्यादा वीमार हो गए तो सुन्दरकाण्ड का पाठ और फिर अधिकाई करना हो तो शतचण्डी। मै नही कह सकता कि मेरी इन सभी चीजो मे श्रद्धा थी। दुर्गासिप्तशती का नित्य पाठ मैने वर्षो किया, पर जव श्रद्धा हट गई तो छोड दिया।

पर ईश्वर मे मेरी श्रद्धा रही, जो वढती ही गई। प्रार्थना मे कुछ श्रद्धा रही, पर ज्यादा श्रद्धा काम मे रही। 'हाथ काम, मुख काम, हिरदे सांची प्रीत' यह सूत्र कुछ ज्यादा जंचा।

जो हो, श्रद्धा रही या नही, पर जो अभ्यास करवाया गया, वह एक स्वभाव वन गया। एक तरफ राजस्थान का कठोर जीवन और साथ मे ये माता-पिता के दिये यम-नियम, इन्होने मेरी काफी भलाई की।

पच्चीस साल का होते-होते तो राजस्थान और राजस्थानी कष्टो से मेरा सम्पूर्ण नाता टूट गया। कलकत्ता-वास ने सुख-सामग्रियो का जो अभाव अवतक था, वह सारा मिटा दिया। पर इतने दिनो के अभ्यास के वाद इन सुख-सामग्रियो मे कोई विशेष आकर्षण भी नही रहा।

अजीव वात है कि मनुष्य का स्वभाव कैसे वनता है। मेरा खयाल है कि मनुष्य भी एक तरह का वृक्ष है और कई पहलुओ से मनुष्य और वृक्ष मे कोई फर्क नही है। राजस्थान से अच्छे वाजरे का वीज मंगाकर वगाल की भूमि मे वो

दीजिये। एक साल के बाद राजस्थानी बाजरा बगाली बन जायगा और उसका जॉगडापन भाग जायगा। कलकत्ते से गुलाब लेजाकर राजस्थान मे लगाओ, तो वह बेहद रँगीला बन जायगा। बम्बई का हापुस आम का पेड बगाल मे नही पनपता। प्राय वृक्ष स्थानीय मौसम के आदी होकर अपने-आप उसी मौसम के अनुकूल, अच्छे या बुरे, बन जाते है, वैसे ही मनुष्य भी वातावरण का गुलाम है। मैंने जो बचपन में देखा, सुना, जैसी दिनचर्या रही, जैसा समाज का वातावरण रहा, जैते साँचे मे मै ढल गया, उसपर फिर अमरीका या यूरोप की हवा का कोई असर नही हुआ।

राजस्थानी जीवन का यह अनुपम आशीर्वाद जो मुझे मिला, मेरे बाद की पीढ़ीवालो को दुर्लभ होगा, पर उन्हे अन्य कई आशीर्वाद मिलेगे, जो मुझे नसीब नही हुए।

मेरे बचपन मे पिलानी तीन हजार आदमियो की बस्ती का एक छोटा-सा गाँव था। अब तो बस्ती करीब पन्द्रह हजार होगी और हरियाली भी बढ गई है। पर उस जमाने मे अन्य राजस्थानी स्थानो की तरह पिलानी के इर्द-गिर्द भी बालू के टीलो की भरमार थी और वृक्षो का अत्यन्त अभाव था, क्योकि जलाने के लिए लोग लकडी खेतो मे से काट ले जाते थे, इसलिए वृक्ष बढने नही पाते थे। जमीन की बहुतायत थी और जोतने-वाले कम थे। साग-सब्जी तो वर्षा ऋतु मे ही थोडी होती थी, अन्य फलो का नाम तो केवल कोश तक सीमित था। पीचू और पील या तो काकडी, मतीरे मौसम मे मिलते थे, जिन्हे हम आज फलो की सूची मे शुमार भी नही करते।

हमारे ग्राम मे एक बडा वट का वृक्ष था, जिसकी परिधि शायद एक फर्लांग होगी। ऊँचाई भी सभवत १५० फुट रही होगी। कई एक विरले नौजवान थे, जो बट के आरपार पत्थर फेक सकते थे। वट की जटाओ ने ऊपर से उतर-उतरकर, जमीन मे धँसकर, बट को एक प्राचीन ऋषि-मुनि जैसा रूप दे दिया था। इसलिए पचासो कोस तक पिलानी 'बटवाली पिलानी' कहलाती थी।

इसकी तीन हजार जन-संख्या क्या थी, यह एक तरह का परिवार था। सबको एक-दूसरे के जीवन के हर पहलू का ज्ञान था। जीवन एक तरह के प्रशान्त तालाब की तरह था, जिसमे लहरे कभी-कभी और वह भी एक-आध ही उठती थी। एक तो तब, जब किसीकी मृत्यु होती थी। पिलानी मे वह एक असाधारण घटना मानी जाती थी। विवाह भी विशेष घटनाओ मे से था और जब लडकी ससुराल जाती थी, वह भी एक अवसर माना जाता था।

लडकी की विदाई बडी रोचक थी। यह विदाई प्राय प्रात काल होती थी और उस समय का रिवाज था कि लडकी जबतक ऊँट पर चढकर गॉव के बाहर एक-आध फर्लांग न पहुँच जाय, तबतक जोर-जोर से कूका-कूक करती ही जाती थी। क्रम यह था कि जब लडकी घर से निकलती तो चारो ओर परिवार की औरतो के झुरमुट से घिरी-घिरी धीरे-धीरे चलती। इस जुलूस के आगे-आगे ऊँट का नकेल पकडकर लणिहार, अर्थात् लडकी लिवा लेने के लिए आनेवाला, चलता था। जबसे लडकी घर से चलती, तभी से उसका क्रदन शुरु होता था और

देवियो का झुरमुट विदा का गान छेड देता था। इस तरह धीरे-धीरे यह जुलूस घर से चलकर गाँव के बाहर तक पहुँचता था। खूबी यह थी कि कूका-कूक और देवियो के विदाई-गीत एक ही स्वर मे चलते थे। गाँव के बाहर आकर सगीत तो बन्द होता था, पर कूका-कूक की आवाज और भी बुलन्द बन जाती थी। सब औरते एक-एक करके लडकी से मिलती थी। उसे सात्वना और आश्वासन देती थी, हालाँकि इसकी कोई जरूरत नही थी, क्योकि मेरा खयाल है, और शायद सभीका यह खयाल था कि लडकी का रोना बिल्कुल रस्मी था और सात्वना देना भी एक नेगचार था।

जो हो, गाँव के लोग यदि इन रस्मो मे से मन-बहलाव जुटा लेते थे, तो उतनी ही कारीगरी के साथ अन्य क्षेत्रो से भी मनोरजन खीचकर जीवन को रसमय बनाये रखने की फिराक मे रहते थे। सौ-पचास वर्ष पहले का हिन्दुस्तान फुरसत मे इतना दबा था—और आज भी बेकारी कुछ ही कम है—कि जीवन को नीरसता से बचाने के लिए लोगो को हर क्षेत्र से विनोद और मनोरजन खीचना पडता था, और उसके लिए बेखर्चीले और स्थानीय साधन ही जुटाने पडते थे। खर्चीले मनोरजन के साधन ऐसा समाज बर्दाश्त भी कैसे करे!

इस प्रयत्न मे एक लाभ तो यह होता था कि हर मनुष्य े व्यक्तितत्व को व्यक्त होने का अच्छा मौका मिलता था। एक ई तरह की निर्माण-वृत्ति भी जागृत होती थी, हालाँकि यह ृत्त उस समाज की आर्थिक समस्या पर कोई खास असर नही डाल सकी, पर आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति उन दिनो दुर्लभ

थी। जबतक नये प्रकार के कल-पुर्जो के साधन उपलब्ध न हो, ऐसा पिछडा हुआ दीन समाज करे भी क्या !

आज तो प्लानिंग बन रहा है, विदेश से सहायता के लिए धन आ रहा है, राजनैतिक स्वतन्त्रता है और विद्या-उपार्जन जोरो से हो रहा है। पर ये सब चीजे सौ-पचास वर्ष पहले कहा उपलब्ध थी ? इसलिए उपजाऊ दिमाग की दौड ऐसे क्षेत्र मे सीमित रहती थी कि जिसमे कुछ विनोद भी हो, कुछ सेवा भी हो और मन कुठित न हो। इसके फलस्वरूप लोगो मे आत्मीयता थी, एकता थी, परस्पर-सहायता की भावना थी और हर चीज का मूल्याकन केवल स्वार्थ या पैसे के माप-दण्ड से नही किया जाता था। आज तो वह समाज गोल्डस्मिथ के 'वीरान गॉव' की तरह उजड गया। अनेक अच्छी बाते आई है और अनेक अच्छी बाते गई है, पर उस पिछडी हुई सभ्यता से रहनेवाले समाज का चित्र आज गायब है।

दबा हुआ समाज उदासी से बचने के लिए आमतौर से अतिशयोक्ति की शरण लेता है। इस कूका-कूक और विदाई-गीत की रस्म मे भी वह अतिशयोक्ति ओतप्रोत थी। लडकी का रोना तो गॉव के बाहर जाते ही ऐसा गायब हो जाता था, जैसे बिजली की चमक अचानक आकर अचानक चली जाती है। और विदाई-गीत की अतिशयोक्ति भी आज के लोगो को अद्भुत लगेगी।

'जीजी ओ गोरीरा लश्करिया—औलगडी लगाये र काठे चाल्याजी।'—हे गोरी के लश्कर, प्रीति लगाकर कहाँ जा रहे हो ? अब यह लश्कर तो एक-आध मुर्दा ऊँट तक सीमित था,

जिसपर चढकर लडकी ससुराल जाती थी। और यह प्रीति लगाकर जाने के उलहने मे यदि कोई असलियत होती, तो लडकी और उसके वर के जाते ही वह महिलाओ की सारी टोली वेहोश होकर गिर जाती। पर ऐसा कभी हुआ नही। इतना वढाव-चढाव और अतिशयोक्ति इसी वात की छाया है कि उस समय का समाज अपनी उदासी को भूलने के लिए तरह-तरह के आत्माभिमान-पोपक वाक्यो की शरण लेता था।

गत पॉच-सात सौ वर्प की कविताओ से भी यही निष्कर्प निकलता है। सासारिक साधनो की काफी भर्त्सना इन कविताओ मे की गई है, क्योकि ये सव साधन समाज को उपलव्ध भी नही थे। इसलिए उनकी निन्दा करके ही सतोप माना।

मीरॉ के पद गानेवाले चाहे मीरॉ की भक्ति की और वैराग्य की लाख तारीफे करे, पर कोई घर-गृहस्थीवाला आज यह नही चाहेगा कि उसकी वहू-वेटी घर छोडकर 'सतन ढिग वैठि-वैठि लोकलाज खो दे।' धन की निदा भजनो मे लोग वडे चाव से गाते है, पर धन के पीछे दौड जारी है। वात यह थी, जव सामग्रियॉ उपलव्ध नही थी तव उनकी भर्त्सना हुई, जैसे लोमडी के खट्टे वेर। इसका अच्छा पहलू भी था, जो आज गायव होता जा रहा है। वह अच्छा पहलू व्यक्तियो के चरित्र के विश्लेपण से हमारे खयाल मे आ सकता है। ऐसे व्यक्तियो की पिलानी मे कमी नही थी।

गॉव के उन प्रमुख व्यक्तियो मे प्रथम स्थान देना चाहिए स्यामी चरणदासजी को। 'स्यामीजी' इसी नाम से गॉव के लोग उन्हे पुकारते थे। वे एक मदिर के महन्त थे। पर इतने

ही से उनका हुलिया पूरा नही वैठता। स्यामीजी कुछ वैद्य भी थे, कुछ पडित भी थे। श्रावण मे कथा वॉचते थे। एकादशी को मदिर मे जागरण होता था, जबकि रात-भर भजन गाये जाते थे। होली, जलझूलनी, अन्न-कूट को ठाकुरजी की विशेष पूजा होती थी। इसके अलावा स्यामीजी गायक भी थे। पर पाठक इस सारी गुणावली से चौंधिया न जायं, इसलिए कुछ सफाई करना आवश्यक है। स्यामीजी का आयुर्वेद का ज्ञान दस-वारह औषधियो तक था। मेरा खयाल है कि उस जमाने की आवश्यकतानुसार ये दस-बारह औषधियॉ काफी थी। स्यामीजी को नाडी का ज्ञान भी था। पर नाड़ी तीतर की चाल चलती है या मयूर की, इसकी परख उन्हे थी, ऐसा उनका दावा था। सस्कृत का ज्ञान उनका अत्यन्त स्वल्प था, पर कथा-भागवत भी पढ लेते थे। कैसे पढ लेते थे, यह एक रहस्य था, जिसका उद्घाटन अभी तक नही हुआ। उन्हे सारगी वजानी आती थी, पर स्वर कुछ उल्टे-पुल्टे गिरते थे। रागो का ज्ञान काफी था, पर उनका गला कफ से इतना अवरुद्ध रहता कि स्वर कही-के-कही लग जाते थे। पर स्यामीजी वेमिसाल सेवक थे, इसमे अपवाद नही। रोज सुवह मदिर से निकलकर गॉव का पूरा चक्कर देते थे। रोगी को देखकर दवा देते थे और कभी किसीसे न कुछ मॉगा, न कोई आकाक्षा की।

स्यामीजी की दाढी लम्वी थी और वे उसे वल देकर कान के चारो ओर रस्सी की तरह ऑटा लगा लेते थे। उनका कहना था कि पूरे चार ऑटे कान के इर्द-गिर्द उनकी

दाढी का आता है, यद्यपि किसीने मापा हो, ऐसा मुझे पता नही।

मैंने स्यामीजी की अनेक राग-रागिनियाँ सुनी और उनसे सीखी भी। कोई बाहर का गायक आता तो स्यामीजी उसे मुफ्त भोजन देते। स्यामीजी मे मजाक कूट-कूटकर भरा था। निर्लोभी सेवक और हँसोडे बेमिसाल थे। रात को १२ बजे भी किसी रोगी ने बुलाया तो स्यामीजी चले जाते थे। दवा घर की देते थे और बिना मूल्य। कथा-वार्ता मे कुछ विशेष चढावा नही आता था, पर खाने-भर का अन्न आ जाता था।

मदिर मे उन्हीके साथ उनकी बहन रहती थी। उसका नाम सद्दी था। उसे इस बात का बडा सताप था कि लोग स्यामीजी को कुछ देते-लेते नही। हम लोग मदिर जाकर और जोर से कहते, "सढी दादी, राम राम," तो कुछ खुश होती, आशा करती कि कुछ पैसा मिलेगा। पर थोडी दूर जाकर जब हम चिल्लाते, "सद्दी दादी, रॉड रॉड" तो लाठी उठाकर मारने दौडती, पर किसीको चोट नही आई।

स्यामीजी जब सत्तर के लगभग होकर मरे, तो मदिर उजड गया। लोगो ने शोक मनाया। न कथा रही, न रहा गीत और न जडी-बूटी। ऐसे बेमिसाल सेवक आज दुर्लभ

हमारे गॉव मे एक थे कनीराम तोला। वह भी बेमिसाल था। सारे गॉव की पचायत करता और सदाव्रत (यह काली कमलीवाले ने मुष्टि-अन्न की बुनियाद पर आरम्भ

करवाया था, जो आज भी जारी है) का हिसाब रखता। लोगो से मुष्टि-अन्न घर-घर से एकत्र करता और गरीबो को वितरण करता, पूरा हिसाब—वही-खाता रखता, पर एक कौडी तनख्वाह न लेता। सम्पर्क उसका इतना अधिक था कि गॉव के एक-एक बच्चे का नाम तक जानता था। अमर कोश कण्ठाग्र-वाले मिले है, पर तीन हजार आदमियो का पूरा हुलिया रखने वाला तो कोई ही होता है। कनीराम मे वह माद्दा था।

कनीराम करीब सत्तर साल की आयु पाकर मरा। पर जबतक साठ का न हुआ, कभी रेल भी न देखी, और जब देखी तब अत्यन्त उत्तेजित होकर बैठने से इन्कार किया। कनीराम चाहे आधुनिक चीजो मे पिछडा हुआ था, सेवा मे सबसे अग्रसर था।

हमारे यहॉ एक सरूपा खाती था। कारीगर था। पर कल्पना के घोडे दौडाता था। उसका खयाल था कि अगर उसे सहायता मिले तो वह रेल के इजिन भी बना सकता है। छोटी-मोटी बाहर से आई चीजो की उसने हूबहू नकल करके वैसी ही बना दी। पर रेल का इजिन उसके वित्त के बाहर की चीज है, यह उसने नही माना।

एक पहलवान कमरदी इलाही था, जो रोज एक हजार दड पेलता था। खूब दूध पीता था और अच्छे पहलवानो मे था। दूसरा गीगलिया एक नायक जात का जवान था, जो ऊंट लादकर पेट पालता था। किसीने मजाक मे गीगलिया से कहा कमरदी से कुश्ती लडोगे ? गीगलिया ने 'हा' भर ली। गीगलिया ने न कभी कुश्ती लडी थी, न उसे दॉव-पेच आते

थे। अखाडा खोदा गया और गाँव के सारे लोग एकत्र हो गए। कमरदी ने लगोट खीचकर कच्छा चढाया, उस्ताद की वंदना की और अखाडे को नमस्कार करके ताल ठोकी। गीगलिया के पास न लगोट था, न कच्छा और न कोई उसका उस्ताद था। उसने महज धोती के पॉयचे कसकर अखाडे मे प्रवेश किया। कुश्ती शुरू हुई। कमरदी ने पैंतरे बदले, पर पहली ही झपट मे गीगलिया ने कमरदी को सिर पर उठा लिया और लोगो से पूछा, इसे कहॉ पटकूं? लोग हंसी के मारे लोट-पोट हो गए। कमरदी ने फिर कभी कुश्ती का नाम न लिया। सुना था, गीगलिया अपने कधे पर ऊंट को उठा देता था। गीगलिया वदूक रखता था और अचूक निशानेवाज माना जाता था। एक रोज निशाना मार रहा था, तव वदूक से गोली छूटकर निशाने से वीस गज वाये खडी उसकी मॉ के पैरो मे लगी। मॉ गिर गई, मरी नही। गीगलिया ने कहा, "अत्त तेरी, मॉ रॉड दिल्लगी करते ही लोट गई!" यह कहानी वर्षो तक गॉव मे प्रचलित रही, जिसे लोगो ने पचासो वेर दोहराया और दोहरा-दोहराकर अपने दिल को वहलाया। आज के गूढ मजाकियो को ये सव वाते कटाले से भरी लगेगी, पर ऐसे-ऐसे मनोरजनो से ही जनता उस नीरस समय मे रस डालकर काल-यापन करती थी।

हमारे यहॉ एक डाकिन थी। उसका नाम था वर्जली। ॅली की वतौर डाकिन काफी शोहरत फैल गई थी, यहॉ तक कि वच्चो के मॉ-वाप उससे इतने डरते थे कि वच्चो को उसके सामने नही आने देते थे। कभी जव वह हमारे पास

मे आती तो हमे छिपा लिया जाता था, क्योकि उसकी ऑख पडने पर काफी अशुभ की आशका थी। यदि कोई बच्चा बीमार पड गया और शक वर्जली पर गया तो या तो उसकी मिन्नत करके या उसे ठोक-पीटकर जबरन उससे बच्चे पर थुकवाया जाता था। इसके माने यह थे कि वर्जली ने बच्चे पर यदि थूक दिया तो फिर उसने जो जादू बच्चे पर चलाया था, वह वापस आजाता था।

मैने वर्जली को छिपछापकर देखा था। सूरत-शकल से वह एक साधारण कुरूप बुढिया लगती थी, पर उसकी शोहरत के कारण उसको कुछ आमद भी हो जाती थी। इसलिए वर्जली ने कभी डाकिन होने से इन्कार नही किया, बल्कि लोगो के इस विश्वास को उसने प्रोत्साहन ही दिया।

सुना था रात को वर्जली जरख (लकडबग्घा) पर चढकर कुएँ की गूण पर ऊपर-नीचे सवारी पर उतरती-चढती रहती थी। पता नही, हमारे प्रात मे ऊँट, घोडे, बैल होते हुए भी वर्जली को जरख की सवारी क्यो पसन्द थी। पर यह अपने-अपने मुल्क का रिवाज और अपना-अपना शौक समझिये, क्योकि यूरोपियन डाइन को झाड पर चढने का शौक है। खैर, यूरोपियन डाइन की सारी करतूतो का तो मुझे पता नही, पर वर्जली का शौक यह था कि जो बच्चा उसके जादू से मर गया, उसे रात को गड्ढे से उखाडकर वह जिन्दा कर देती थी और फिर बच्चे को खिलाती रहती थी। सुबह की वेला फिर उसे मारकर उसी गड्ढे मे गाड देती थी। यह वर्जली डाकिन का शौक कुछ अजीब था, जिसके माने समझना आज

की नवीन सन्तान के लिए मुश्किल है। पर उस जमाने के लोगो के लिए इसे समझना मामूली बात थी।

वर्जली बच्चे को जिन्दा करने से पहले बच्चे के कलेजे को निकालकर खा जाती थी। कलेजे के क्या माने होते है, यह अनेटोमी के ज्ञान के अभाव मे किसीको पता नही था। पर सभी ऐसा मानते थे कि बच्चे का कलेजा डाकिन निकाल लेती है।

हमारे यहाँ एक ब्राह्मण लडका था, जो डाकिन के जादू से मर गया था। उसके परिवारवालो को पता था कि वह बच्चा डाकिन के जादू से मरा है। इसलिए जिस दिन बच्चे को गाडा गया था, उसी रात को बच्चे के परिवार के दस-पॉच आदमी जगल मे जा छिपे। अब वर्जली रात को जहाँ बच्चा गाडा गया था, पहुँची। बच्चे को निकाला और जिन्दा करके ज्योही उसे खिलाना शुरू किया कि इन लोगोने पीछे से वर्जली का चोटा पकडकर उल्टे सिर धर दबोचा और बच्चे को छीनकर ले भागे। इसकी करामात यह थी कि अगर बच्चे को इस छीना-झपटी के समय फिर वर्जली देख पाती तो बच्चा जिन्दा नही रहता था। इस मरे हुए बच्चे को वर्जली की गोद मे से किस तरह बचाया, यह किस्सा गॉव के लोग बडे चाव से पच्चीसो साल के बाद भी श्रद्धा से सुनते और चाव से कहते। किसीने इस बात का विरोध नही किया, न ीने इसकी सच्चाई मे शका की, बल्कि बच्चे के मॉ-बाप खाकर भी इस कथा की सत्यता स्वीकार करते थे। ीव जमाना था वह डाकिनो और भूतो का!

इस जमाने मे तो डाकिनो की फैशन उठ गई और न रहे भूत-भूतनियाँ, पर मेरे बचपन मे भूत-भूतनियो की कोई कमी नही थी। बीसो आदमियो ने उन्हे देखा और उनसे बाते की, हालाँकि लाख कोशिश करने पर भी मै भूत-देवता के दर्शन नही कर पाया। कम-से-कम इस जमाने के लोगो का सबसे बडा नुकसान यह हुआ कि उनके लिए अब भूत देखने का कोई मौका ही नही रह गया।

हमारे पूर्वजो मे भी एक 'पित्तर' हो गए है। यह ध्यान देने की बात है कि पित्तर और भूत अलग-अलग है। भूत नालायक, कमीने होते है, लोगो का नुकसान करते है और पित्तर भले होते है। हमारे परिवार की परम्परा ने भी कुछ सहारा लगाया होगा कि हमारे पूर्वजो मे पित्तर हुए। यह पित्तर रात को सफेद कपडे पहनकर और कभी-कभी सफेद घोडे पर चढकर निकलते थे और हर पहलू से हमारी रक्षा मे तैनात रहते थे। मेरी माँ को इनका बडा भरोसा था। एक मरतबा शाम को मै देरी तक गलियो मे खेलता रहा और जब वापस लौटा तो पिताजी को क्रुद्ध देखकर वापस भागकर किसी एक फूटे मकान मे जाकर छिप गया। अब शुरू हुई दौड-धूप मुझे खोजने की। लोग चिल्लाते और पुकारते उस टूटे मकान के पास से निकल जाते थे, पर किसीने भीतर घुसकर नही देखा कि मै मजे मे खडा सबको देख रहा हूँ।

खैर, लोगो की इस परेशानी को देखकर, न मालूम क्यो, मुझे बडे जोर से हँसी आई और मै बाहर निकल पडा। मुझे हाथोहाथ गोदी मे चढाकर मेरी माँ के पास पहुँचाया गया

और, पता नही क्यो, वजाय पीटने के मेरा काफी दुलार हुआ। पीछे से मैंने सुना कि मुझे किसी कारण पित्तर ने छिपा लिया था। लोगो ने विना किसी झिझक के मेरी माँ को वताया कि उन्होंने एक सफेद कपडेवाले मनुष्य को उस फूटे मकान के पास देखा था। फिर तो उन पित्तर को प्रसन्न करने के लिए खीर वनी, जो मैंने भी बडे चाव से खाई।

अफसोस है कि भूतो और पित्तरो का यह समाज आज गायव हो गया, रूठ गया या वेकार हो गया। जो हो, ये सव वाकये गाँव के लोगो को व्यस्त रखने के लिए काफी मसाला दे देते थे।

हमारे यहाँ कहावत थी .

"सीयाले खाटू भलो
ऊनाले अजमेर,
नागाणो नित को भलो
सावण बीकानेर।"

उन दिनो, जवकि लोगो का अन्य प्रदेशो का ज्ञान परिमित था, मुमकिन है, ऊपर का यह खयाल ठीक हो। तीन सौ साल पहले तो अजमेर के आसपास के प्रदेशो मे काफी वडे जगल थे और आवू भी पास मे ही था। इसलिए गर्मी की लू से वचने के लिए 'उनाले अजमेर' ठीक हो सकता है। पर श्रावण की सारे राजस्थान मे भी विशेपता रही है और पिलानी भी इस विशेपता से वरी नही थी।

आज तो तुलना कुछ वारीकी से होने लगी है, इसलिए श्रावण मे जब तापमान ९५ से ऊपर रहता है, उमस वहुत

ज्यादा रहती है, कीडे-मकोडो और मच्छरो का जोर रहता है तो हवा-पानी और मौसम की दृष्टि से पिलानी मे या राजस्थान मे आकर्षण कम रह गया है। पर हमे उन लोगो की नजर से देखना चाहिए, जो लू खाते-खाते तग आगए थे और पपीहे की तरह वर्षा की उडीक करते थे।

वर्षा के राजस्थान मे अनेक आकर्षण है। प्रचण्ड गर्मी के बाद बादलों की काली और रुपहरी शक्ल के साथ उतार-चढाव, बूँदो की रिमझिम, बिजली की कडक, मोरो का मेह की गरज पर नाच, किसानो का हल ले-लेकर निकलना, खेतों मे फिर आठ महीने के बाद चहल-पहल—ये सब बाते राजस्थानी के लिए कुछ अनोखी है। वर्षा जब आती थी, बच्चे नालियो के पानी मे और गलियो की नालियो मे भी क्रीडा करने उलट पडते थे। सारे साल का अन्न एक ही ऋतु मे पैदा होता है, यदि अकाल न पडा तो। इसलिए भी वर्षा ऋतु का महत्व राजस्थान मे अन्य प्रदेशो से कही काफी अधिक है।

हमारे यहाँ भी एक पचास बीघे का खेत था, जिसे किराये के हलो से हम लोग जुतवाते थे। बाजरी तो प्रधान फसल है। उसे बोते ही थे। पर बाजरी के साथ गँवार (गौ-अहार), मूँग, मोठ, चौला, काकडी, मतीरे के बीज भी बोये जाते थे। और इन सब चीजो के अकुरित होने से लगाकर फसल कटने तक हम लोग हर-दिन की प्रगति से अपने-आप को ब्यौरेवार वाकिफ रखते थे। जब बाजरे के सिट्टे लगते थे, उस समय तक ककडी और मतीरे भी तैयार होने आ जाते थे। तब मित्रो के साथ खेतो मे एक तरह की पिकनिक होती थी, जिसमे उत्साह,

आनन्द और उत्तेजना का कोई ठिकाना नही रहता था। शाम को घर आते तब ऊँट पर गँवार-फली, बाजरे के सिट्टे और मतीरे लादकर घर ले आते थे। अब तो इन चीजो का रस राजस्थानियो के दिल मे भी निकल गया, पर उस पुरानी पृष्ठ-भूमि पर ये सब चीजे दुर्लभ थी, जिन्हे प्राप्त करने की लालसा बनी ही रहती थी।

पर यह चित्र तो हुआ वर्षा होने पर फसल अच्छी हो उसका, इसके विपरीत जब अकाल पडता था तो सब मुर्झा जाते थे। मेरी याद मे और शायद सारे हिन्दुस्तान मे १९५६ सवत्-जैसा अकाल नही पडा। इससे पहले सुना था कि सवत् १९०० और १९०१ मे लगातार दो अकाल पडे थे। इनका नाम लोगो ने 'सैया' और 'भैया' रक्खा। ये अकाल, कहते है, इतने भयकर थे कि १९०१ मे किसी घर मे चक्की की आवाज सुनकर १९०१ का दुर्भिक्ष 'सैया' १९०० के दुर्भिक्ष 'भैया' से कहता था—'चाकी चालेरे सैया, माणस बोले रे भैया!'

इसके बाद भी एक-आध भयकर दुर्भिक्ष पडा। पर छप्पनिये अकाल ने सब अकालो को नीचा दिखाया। इसकी भयकरता भय को भी डरानेवाली थी। छप्पन मे यो कहना चाहिए कि बरसात हुई ही नही। आषाढ गया, श्रावण गया, जब भादो गया तब तो लोगो के छक्के छूट गए। कुछ हिस्सो मे, जहाँ पानी खारा है, वहाँ तो कुण्डो का भी पानी सूख गया। सारा बागड, जो राजस्थान का पश्चिमी हिस्सा है, भादो मे डुल पडा और अन्य प्रदेशो मे जाने लगा। पर जाना भी

आसान नही था। जिन पशुओ के बल पर गाडो मे सामान लादकर वालद चली थी, वे पशु एक-एक करके मरने लगे। उनके वाद नम्वर आया मनुष्यो का। भूख के मारे लोग बच्चे बेचने लगे, पर लेनेवाला कहाँ! लोगो की कमर मे रुपये बँधे पडे रहे और भूख के मारे मरते गए।

मैंने अपनी आँखो बीसो मुर्दे हमारे गाँव के आसपास सडते देखे और सैकडो खोपडियाँ बिखरी हुई देखी। लोग समझ न पाये कि क्या हो रहा है। यातायात की उन दिनो कमी थी। रेल तो थी नही, ऊँट-बैल चारे के अभाव मे मर गए। अन्न करीब ६ रुपया मन मिलता था, पर पहुंच नही पाता था।

मेरे पिताजी ने लोगो को काम देने के मतलब से कई जगह कच्चे तालाब और कुओ की मरम्मत करवानी शुरू की, पर कोई दवा सफल नही हुई। लाखो आदमी राजस्थान मे मरे। लोगो के देखते-देखते यह एक अनहोनी घटना थी। इतनी भूख पर भी कोई लूट-खसोट या डाका नही पडा। लोग चुपचाप ईश्वर की शरण मे जाते थे। किसी-किसी घर मे तो मुर्दा जलानेवाला भी नही बचा।

इस दुर्भिक्ष के समय मे पिलानी मे जो कोई डुलकर आया, उसे सदाव्रत की तरफ से कनीराम तोला एक मुट्ठी अन्न दे देता था और हमारे परिवार की तरफ से भी कुछ-न-कुछ प्रबंध था। उत्तरप्रदेश से अच्छी तादाद मे किनारी और मटर आयात कर ली गई थी और हर भूखे को एक-एक मुट्ठी दोनो अन्नो की बाँट देते थे। खानेवालो

को पकाने तक की फुर्सत नही थी। इसलिए मटर और किसारी को कच्चा ही फांक जाते थे।

क्षुधा की पीडा का यह रोमाचकारी दृश्य मैने बचपन मे ही देखा। मैं उस समय केवल पाँच साल का था, पर मेरे चारो ओर क्या हो रहा है, इसका मुझे अच्छी तरह भान था। भूखे लोगो का त्रास और जगह-जगह मुर्दे और खोपडियो का टलना, यह भयानक दृश्य था, जिसने मेरे हृदय पर काफी चोट की। कुछ गरीब लडके मेरे साथी थे। उन्हे मैं अपने यहाँ से कुछ और भी अन्न दे देता था। उन साथियो मे एक-आध आज जिन्दा हैं और हमारे यहाँ कुछ कार्य भी करते है।

पर छप्पन जितना भयकर दुर्भिक्ष था, सत्तावन वैसा ही चिरस्मरणीय सुकाल हुआ। छप्पन मे पशु सब मर गए थे और इसलिए खेती कैसे जोतेगे, यह भी एक समस्या थी। सत्तावन मे आषाढ मे ही बादल छाने लगे, पर वर्षा नही हुई। लोगो की चिन्ता बढी। लोगो ने सतृष्ण आँखो से बादलों की ओर देखा—आशा और भय के साथ। यदि फिर अकाल पडा तो? और वर्षा हुई भी तो खेती कैसे बोयेगे? इसी उधेड-बुन मे थे कि श्रावण मे इन्द्र उमड पडा, मूसलाधार वर्षा हुई और उसके बाद चाही-चाही वर्षा हुई समय पर, न कम, न अधिक। वर्षा होते ही नर-कंकाल खेतो मे दौड गए और मर्द और स्त्री मिलकर पशु की तरह हल खीचने लगे। पर पूरी खेती न होने पाई। इधर भगवान् बरसा तो ऐसा बरसा कि जहाँ खेती नही जोती गई, वहाँ भी बाजरी, मूंग, मोठ

को पकाने तक की फुर्सत नही थी। इसलिए मटर और किसारी को कच्चा ही फाँक जाते थे।

क्षुधा की पीडा का यह रोमाचकारी दृश्य मैने वचपन मे ही देखा। मै उस समय केवल पाँच साल का था, पर मेरे चारो ओर क्या हो रहा है, इसका मुझे अच्छी तरह भान था। भूखे लोगो का त्रास और जगह-जगह मुर्दे और खोप-डियो का टलना, यह भयानक दृश्य था, जिसने मेरे हृदय पर काफी चोट की। कुछ गरीव लडके मेरे साथी थे। उन्हे मै अपने यहाँ से कुछ और भी अन्न दे देता था। उन साथियो मे एक-आध आज जिन्दा है और हमारे यहाँ कुछ कार्य भी करते है।

पर छप्पन जितना भयंकर दुर्भिक्ष था, सत्तावन वैसा ही चिरस्मरणीय सुकाल हुआ। छप्पन मे पशु सव मर गए थे और इसलिए खेती कैसे जोतेंगे, यह भी एक समस्या थी। सत्तावन मे आषाढ मे ही वादल छाने लगे, पर वर्पा नही हुई। लोगो की चिन्ता वढी। लोगो ने सतृष्ण आँखो से वादलो की ओर देखा—आशा और भय के साथ। यदि फिर अकाल पडा तो? और वर्पा हुई भी तो खेती कैसे वोयेंगे? इसी उधेड-वुन मे थे कि श्रावण मे इन्द्र उमड पडा, मूसलाधार वर्पा हुई और उसके वाद चाही-चाही वर्पा हुई समय पर, न कम, न अधिक। वर्पा होते ही नर-ककाल खेतो मे दौड गए और मर्द और स्त्री मिलकर पशु की तरह हल खीचने लगे। पर पूरी खेती न होने पाई। इधर भगवान् वरसा तो ऐसा वरसा कि जहाँ खेती नही जोती गई, वहाँ भी वाजरी, मूंग, मोठ

उग पडी। बाजरा बढा तो ऐसा बढा कि कई-कई बूंट १५-२० फुट लम्बे गये। एक-एक बूंट मे सात-सात सिट्टियाँ लगी। लोगो को फसल पकने तक का धीरज नही था। इसलिए कच्ची बाजरी मूद-मूदकर खाने लगे और ऐसे ही काकडी और मतीरे।

सूखी हुई हड्डियो मे जान आई और मास-चर्बी जो सूख गई थी, वह मनुष्यो के वदन पर फिर आने लगी। आसोज आते-आते तो लोग मोटे-ताजे हो गए। बाजरी इतनी सस्ती हो गई कि कोई लेनेवाला नही मिला, पर इन्द्र चुप नही रहा। माघ तक बरसता ही रहा। फसल कट गई, पर फिर अपने-आप पनप गई और सिट्टे माघ तक चलते रहे।

भगवान की लीला अपरपार है। छप्पन का काल और सत्तावन का सुकाल, ये राजस्थानी हृदयो पर एक अमिट छाप छोड गए है।

इस पृष्ठ-भूमि और इस वातावरण मे मै जन्मा और पला। इसकी मुझे खुशी है। भविष्य की सन्तान को यह अवसर शायद ही मिले, क्योकि उस समय के जनमनेवालो ने काफी फेर-बदल देखा। रगमच पर कई नये पर्दे पडे और कई सिमटे। मेरे बचपन मे भारत परतत्र था। एशिया के मुल्क भी पिछडे हुए थे। सारे आलम मे इगलिस्तान का डका बजता था। रानी विक्टोरिया के राज मे सूर्य कभी अस्त नही होता था। अग्रेजो की यश पताका शिखर पर पहुँच चुकी थी और शान के साथ फहरा रही थी। इसके बाद स्वतन्त्रता का सग्राम शुरू हुआ, वह भी मैने देखा। अग्रेजो की ढलती

आई, मेरे देखते-देखते रूस पनपा और उन्नत हुआ। भारत को आजादी मिली और अग्रेजी यूनियन जैक की जगह तिरगा झडा चढ गया। अन्य मुल्को को भी आजादी मिली। गाधी-जी के सम्पर्क मे मै आया और अन्य नेताओ को भी नजदीक से देखा। उनसे वहुत-कुछ सीखा। उनकी सेवा करने का भी मौका मिला।

इस अनोखे समय और वातावरण मे जन्म लेना, पनपना और जिदा रहना, यह एक वडा सुअवसर मुझे मिला।

: २ :

मेरा शिक्षण

मेरी शिक्षा की कहानी आज के उन्नत माने जानेवाले युग मे एक अजीव-सी कथा लगेगी। जब मैं चार ही साल का था, तब सरस्वती और गणेश-पूजन के बाद, बडे समारोह के साथ, मुझे पाठशाला भेजा गया। हम लोग उस जमाने मे उस स्थान को पाठशाला तो शायद ही कहते थे। बोलचाल की भाषा मे इसे 'साल' कहा जाता था और यह साल भी एक अद्भुत जगह थी।

एक पुरानी टूटी-फूटी मडी मे एक 'गुरु' पचासेक लडको को 'नीचे धरती और ऊपर आकाश' ऐसे एक खुले चौगान मे धरती पर, बिना किसी जाजम या दरी के विछात के, वैठाकर पढाते थे। चूंकि ऊपर कोई छत नही थी, इसलिए धूप से वचने के लिए दीवार की आड मे क्लास लगती थी, और जव वर्षा होती, तव पाठशाला वन्द कर दी जाती थी।

पाठ्यक्रम की पुस्तको के नाम पर तो तोवा था। शायद इस शब्द का अर्थ भी गुरु नही जानते थे। स्लेट भी सव वच्चो के पास नही होती थी। जिनके पास स्लेट नही थी, उनके पास एक पटिया होती थी, जिसपर ईंट की खोर विछाकर लकडी के 'वरने' से लडके कुछ अक लिख लेते थे।

अक लिखे जाते थे, अक्षर नही। अक्षर-ज्ञान राजस्थान

में उस जमाने म अनावश्यक समझा जाता था। शिक्षा का आरम्भ होता था 'अको' से। पट्टी-पहाडा, सवैया, डेढा, ढॉचॉ, पौना, कनकैया, जोड, वाकी, गुणाकार, भागाकार, जवानी हिसाव—वस, यहॉ तक पहुंचे कि शिक्षा समाप्त। इसके वाद अक्षर-ज्ञान कराया जाता था—वह भी विना मात्रा के अक्षर, जिन्हे 'मोडा' कहते थे। इन मोडा अक्षरो का भी कोई निश्चित स्टैण्डर्ड नही था। जैसी जिसकी लिखावट, वैसा ही 'मोडा' अक्षर। इसका कुछ ज्ञान होने के वाद आदतन हरएक को सभी तरह के मोडा अक्षर पढने का अभ्यास हो जाता था। वस, यही उस जमाने की शिक्षा का क्रम था, जो करीव तीन-चार साल मे समाप्त हो जाता था।

कुछ गुरु ऐसे भी माने जाते थे, जिन्हे लीलावती के त्रैराशिक का ज्ञान था, पर इस ज्ञान को किसीने कसौटी पर नही कसा, क्योकि त्रैराशिक पढनेवाले शिष्य ही कहॉ थे!

मैंने भी इसी क्रम का अनुसरण किया।

पर तीन-चार साल के वाद एक रोज अचानक एक नई घटना घटी। जव लडके सुवह-सुवह 'साल' पहुँचे, तो देखा कि गुरु नदारद है। वात यह हुई कि गुरु की किसी विधवा से लागफॉस थी, और वह रात ही को गॉव छोडकर उस विधवा के साथ ऊँट पर चढकर भाग गया। यह एक उत्तेजनाप्रद घटना थी। गॉव मे इसे लेकर वडा शोरगुल मचा। गली-गली मे इसकी चर्चा होने लगी। लडको मे भी कुतूहल जाग उठा, और कानाफूंसी चलती रही। पर एक वात हुई, वह 'साल' सदा के लिए वन्द हो गई।

मेरे दादाजी और पिताजी को अब चिन्ता हुई मेरे शिक्षण की। नया प्रबन्ध क्या हो, इस उधेडबुन मे पडकर बडी खोज-खाज के बाद एक नया गुरु बुलाया गया। इसका नाम था कानसिह। यह जाति का राजपूत था, बुड्ढा था, खूब सफेद दाढी थी। इसका ज्ञान भी उतना ही माना जाता था, जितना कि प्रथम गुरु का। कानसिह ने आकर हमारे एक छोटे-से पुराने मकान मे पाठशाला खोल दी। कानसिह पॉच रुपया मासिक तनख्वाह पर नियुक्त होकर आया था। मुड्ढे पर बैठकर वह बेत के जोर से पाठशाला चलाने लगा। पचासेक लडके पाठशाला मे जुट गए। मैने भी इस पाठशाला मे अपनी अधूरी शिक्षा कानसिह के सहारे से 'पूरी' की। दरअसल तो हर शिक्षा अधूरी ही रहती है, पर जबानी हिसाब-किताब सीखने के बाद सात ही साल की अवस्था मे तो मै दक्ष मान लिया गया। बाहर के लोग आकर यदि पूछते कि अढाई सेर का घी, तो एक मन का क्या दाम ? तो मै चट से सही उत्तर दे देता था। यह उस जमाने मे कोई साधारण विद्या नही मानी जाती थी।

पर अब, बदलते हुए जमाने मे, काल-धर्म के अनुसार, अग्रेजी की भी कमी महसूस होने लगी। वह कमी कानसिह से नही पूरी हो सकती थी। वह बेचारा अग्रेजी से तो कोसो दूर था। हिन्दी के अक्षर-ज्ञान से भी सरासर बेकसूर था। इसलिए अब तय यह हुआ कि कानसिह को हटाकर कोई अग्रेजी-पढा मास्टर रक्खा जाय। इस विचार के परिणाम-स्वरूप मास्टर रामविलास को बुलाया गया। यह भिवानी

से आये। हट्टे-कट्टे जवान और क्रोध की मूर्त्ति। तनख्वाह इनकी पच्चीस रुपये मासिक थी। रामविलास मास्टर ने स्कूल को एक नये ढॉचे मे ढाला और अब यह स्कूल नया रूप लेकर चलने लगा। स्कूल मे घडी रक्खी गई और घडियाल भी, जो हर घण्टे घण्टा बजाकर गॉववालो को, कितना बजा है, यह बताती थी। गॉववालो ने इसे एक बडी क्रान्तिकारी घटना माना।

कानसिह से तो लडके परिचित हो गए थे, क्योकि उनमे स्थानीय 'बू' पुष्कल थी, पर जब रामविलास आये तो कुछ दिन लडको को उसकी खटक रही, बाद उनके भी आदी हो गए। रामविलास की वेश-भूषा भी कुछ अग्रेजी ठाठ की थी, और ऊपर से क्रोध की तेजी। इसलिए उनका रौब काफी जम गया।

मास्टर रामविलास कुछ मामूली-सी ही अग्रेजी जानते थे। किसी मौलवी साहब से उन्होने उर्दू भी सीखी थी, पर हिन्दी से वे पूरे बेदाग थे। इसलिए उस उर्दूदॉ आबोहवा मे मैने सर्वप्रथम अग्रेजी की प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिंग' मे प्रवेश किया। अग्रेजी के स्वर और व्यजन से ही इस पुस्तिका का आरम्भ होता था। छोटे-छोटे शब्दो के बाद इसमे छोटे-छोटे सहज वाक्यो का क्रम था। मैने धीरे-धीरे स्वर-व्यजन समाप्त करके मास्टरजी की सहायता मे एक साल मे सारी पुस्तक का अन्त कर दिया और उसी अन्त के साथ-साथ नौ साल की आयु मे मेरी शिक्षा के प्रथम सोपान का भी अन्त हुआ। अग्रेजी-शब्दो का अर्थ मास्टरसाहब उर्दू

मे वताते थे, इसलिए मैं भी हिन्दी की आबोहवा से बिल्कुल कोरा रहा। मुझे याद है कि 'एक्सट्रा-ऑडिनरी' शब्द के माने उन्होने वताये थे, 'अजव तरह की चालाकियाँ'। खुदा जाने, यह अर्थ उनके दिमाग मे कहाँ से आ टपका! पर मैंने तो जो वताया गया, उसे ही याद किया। पीछे, जव अशुद्धि का पता चला, तव दुरुस्त किया। खैर, गलत-सलत कुछ भी मैंने सीखा, पर गाँव-गली के लोग तो मेरी उतनी ही इज्जत करते थे, जितनी कि किसी 'विशारद' की हो सकती है, क्योंकि मुझे अग्रेजी मे तार लिखना-पढना आ गया था, और अग्रेजी के कुछ वाक्य भी मौके-वेमौके वक सकता था। इस गँवई 'विद्या' की प्राप्ति के पश्चात् मुझे कलकत्ते दादाजी के पास भेज दिया गया, क्योंकि गॉव के सीमित वातावरण से मेरा स्तर ऊँचा हो गया था, ऐसा मान लिया गया।

कलकत्ते जव मैं पहुँचा तव नौ साल का था। कुछ अपरिचित विदेशियो ने मेरे दादाजी से कहा कि लडके को आगे पढाना चाहिए। कुछ लोगो ने यह भी कहा, लडका होशियार है। पर दादाजी के पास सवके लिए एक ही उत्तर था, "ज्यादा पढाने से लडका वम का नही रहेगा, और अग्रेजी अधिक पढने से 'किरिस्टान' हो जायगा।" तव भी अधिक दवाव मे आकर कलकत्ते मे 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' में मुझे दाखिल करा ही दिया गया। इस दाखिले के लिए आठ-दस किताबे खरीदकर दे दी गई और एक वैग भी किताबे रखने के लिए दिया गया। यह मेरे लिए अत्यन्त उलझीला अनुभव था। यहाँ मैं गांव-गँवई का लडका और वहाँ कलकत्ते के स्कूल

का यह अद्भुत वातावरण! दसियो अध्यापक, कई क्लासें, सैकडो लडके, यह सब मुझे दिलचस्प तो लगा, पर भयावना भी लगा। लडके भी कलकतिये, इसलिए गॉव के लडको से भिन्न। अलग वेशभूषा। भाषा भी हिन्दी-मिश्रित। इस सब को मैं पचा नही पाया। खैर, मैं स्कूल मे दाखिल तो हो गया, पर मन वहाॅ चिपटा नही। इसलिए धीरे-धीरे स्कूल से गैर-हाजिर होने लगा।

दादाजी तो मुझसे कभी पूछते भी नही थे कि मैं क्या पढता था और स्कूल मुझे कैसा पसन्द आया। मेरी विद्या से उनकी विद्या तो और भी निम्न स्तर की थी। इसलिए हमारे बीच यह एक मौन समझौता बन गया कि न तो वे मुझसे पूछते कि मैं क्या पढ रहा हू, और न मैंने ही कभी उन्हे अपनी दिन-चर्या से परिचित किया।

असलियत तो यह थी कि मैं घर से अपना 'बैग' लेकर स्कूल के लिए रवाना हो जाता था, पर स्कूल न जाकर दिन-भर कलकत्ते की गलियो से ही मैत्री होती थी। दिनभर चक्कर काटकर शाम को घर पहुँच जाता था। नतीजा यह हुआ कि मैंने 'विशुद्धानन्द विद्यालय' से तो कुछ नही पाया, पर कलकत्ते की गलियो से कलकत्ते के भूगोल का काफी ज्ञान हासिल कर लिया। मेरा खयाल है कि इस भूगोल की परीक्षा मे आज भी मैं अच्छे नम्बरो मे पास हो सकता हू।

पर यह क्रम भी समाप्त हुआ। मेरे पिताजी मुझे बम्बई ले गए और वहाॅ व्यवसाय सिखाने के साथ-साथ एक घंटे के

लिए एक मास्टर को तैनात कर दिया, जो अंग्रेजी की गटर-पटर रटाया करता था।

इस तरह दो साल और बीते। इस अरसे मे हिसाब-किताब, वही-खाता तो मै सीख ही गया, कुछ अग्रेजी के वातावरण से भी परिचित हो गया। तार तो लिखना आ ही गया था, अब कुछ टूटी-फूटी चिट्ठियो के क्षेत्र मे भी दु साहस करने लगा। पर मेरे इर्द-गिर्द तो ऐसे अनपढो की मडली थी कि उनके बीच मे मै पूरा विशारद था।

इसके बाद कुछ दिन फिर पिलानी के ही स्कूल मे रहा। मास्टर रामविलास के साथ-साथ अब वहाँ मास्टर श्रीराम भी आ गए थे। हरफन-मौला और उडान के मास्टर थे वह। उडान देते ही रहते थे। कोई भी पाठ्यक्रम स्थिर नही रहता था। किसी भी चीज पर उनका दिल नही अटकता था। आज हिन्दी तो कल सस्कृत, परसो कुछ और। अग्रेजी की पुस्तको की भी अजीब अदला-बदली हर महीने चलती थी। कभी तो छोटी क्लास के लडको को 'क्लैकीज सेल्फ-कल्चर' सौपी जाती, तो कभी वापस 'इग्लिश ग्रामर' से पाठ आरम्भ होता था। 'होरा-चक्र' और 'शीघ्रबोध', जिनसे पाठ्यक्रम का कोई सम्बन्ध नही था, वह भी टपक पडता था। मास्टर श्रीराम 'लघुकौमुदी' और 'अमरकोश' को भी लडको पर लादने की कोशिश मे थे, पर नाकामयाब हुए। ये सारे प्रयोग होते थे नौ-दस साल की उम्र के लडको पर।

इस निरन्तर अदला-बदली के कारण कम-से-कम मेरी कई पुस्तको और कई नये विषयो से पहचान बढी। खैर, पर

इन्हे हिन्दी ठीक-ठीक आती थी। उर्दू, अग्रेजी से भी ठीक-ठीक ठोकर खाई थी। इसका कुछ अच्छा असर भी पडा, क्योकि इनके जरिये मैंने हिन्दी मे प्रवेश कर लिया और ठोकरे खाते-खाते एक साल के बाद लोअर प्रायमरी की परीक्षा को पास कर ही तो लिया। यह परीक्षा क्या थी, इसका माप-दड बताना आज कठिन है, पर शायद आज की चौथी क्लास से इसकी तुलना हो सकती है। इसके बाद मैं और पढता, तो अपर प्रायमरी की परीक्षा देकर मिडिल भी पास कर सकता था।

पर अब पिताजी ने भी मान लिया कि इस 'विशारद' को व्यवसाय मे डालना चाहिए। इसलिए तेरह साल की अवस्था मे पिताजी के नीचे व्यवसाय करने लगा, और 'स्कूली जीवन' को तो, यदि इस जीवन को इतनी बडी उपमा देने की मै धृष्टता करूँ, अन्तिम नमस्कार किया। यह है मेरी शिक्षा की कहानी !

पर जब व्यवसाय मे पडा, तब मुझे अपनी इस कमी का स्पष्ट ज्ञान हुआ। यह अनुभव होते ही मेरी यह कमजोरी जोर से मुझे सताने लगी, और इसीके साथ-साथ जिज्ञासा की अमिट जागृति हुई, जो आज भी निरन्तर जारी है।

नौ-दस साल की उम्र मे 'सुखसागर' और 'भारतसार' मैं पढ गया था, इसके कारण हमारी प्राचीन कथाओ से मैं काफी-परिचित हो गया। अब हिन्दी के ज्ञान के सहारे जो भी हिन्दी-पुस्तक मुझे मिली, उसे हजम करने लगा। उन दिनो हिन्दी का साहित्य काफी कमजोर था, पर जो भी मिला, उसीसे

सन्तोष किया। वम्बई मे रहने के कारण गुजराती भाषा का मुझे ठीक ज्ञान हो गया था, इसलिए हिन्दी-साहित्य की कमी को गुजराती से भरने की कोशिश करने लगा। गुजराती-साहित्य काफी पढ जाता था। पर जब अग्रेजी अखबार पढने का प्रयत्न किया, तो अग्रेजी-शब्दावली का स्वल्प ज्ञान मेरे रास्ते मे बाधक होने लगा। उससे युद्ध करने के लिए डिक्शनरी की मैंने शरण ली। साथ मे कॉपी-बुक की भी सहायता ली। डिक्शनरी मे शब्दार्थ देखकर कॉपी-बुक मे उस शब्द का अर्थ लिख लेता था, और शब्द के उच्चारण और अर्थ को रट-रटकर याद करता रहता था। वम्बई मे रहने के कारण लोगो को इधर-उधर अग्रेजी मे बात करते सुनता था, इससे भी उच्चारण सुधारने का मौका मिल जाता था।

इसके बाद तो सोलह साल की आयु मे मैंने कलकत्ते मे स्वतत्र व्यवसाय शुरू कर दिया। इस व्यवसाय के सिलसिले मे मेरा अग्रेज और अमरीकी लोगो से काफी सम्पर्क बढा। इस सम्पर्क से मुझे अग्रेजी का ज्ञान बढाने का अच्छा अवसर मिला। मेरा शब्द-कोश समृद्ध होने लगा। नये-नये मुहावरे भी आने लगे और उच्चारण भी सुधरने लगा।

पर केवल भाषा ही तो विद्या नही है। महत्त्वपूर्ण विषयो का अभाव मुझे खटकने लगा। जब विदेशियो से बात करता, और वे लोग किसी गम्भीर विषय की चर्चा करते तो मै अपने को गहरे सागर मे पाता। 'हसमध्ये बको यथा' जैसी अपनी हालत देखकर मुझे शरम और परेशानी सताने लगी। इसका मुकाबला करने के लिए एकमात्र सहारा था पुस्तको का।

मास्टर या अध्यापक रखना पसन्द नही था। समय भी कोई निश्चित नही था कि उसी समय मास्टर को बुलाऊँ। इसलिए एकमात्र उपाय था पुस्तको द्वारा ज्ञान ढूंढना। हिन्दी और गुजराती पुस्तको की परिधि से बाहर निकलकर अब मैंने अग्रेजी-साहित्य का आश्रय लेने का सोचा और विचार को कार्यरूप मे परिणत भी कर दिया। इससे मेरा भापा का ज्ञान भी सुधरा और नये-नये विपयो का भी ज्ञान-सचय होने लगा। हिन्दी, गुजराती और कुछ सस्कृत से तो मै परिचय पा गया था, टूटी-फूटी बँगला भी आती थी। पर अग्रेजी की कमी ज्यो-ज्यो कम हुई, त्यो-त्यो अन्य जटिल विपयो मे प्रवेश करने के लिए अग्रेजी-साहित्य से मुझे सहायता मिलने लगी।

इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विभिन्न फिलासफरो की फिलासफी और साइस जैसे क्षेत्रो मे मेरी रुचि बढी और उस रुचि के अनुसार बौद्धिक भोजन भी जुटाने लगा। बडे लोगो की जीवनियो की जो भी सरल पुस्तक हाथ मे आई, उसे चाव से पढ गया। रूसो, थॉरो, टॉलस्टाय, सुकरात, प्लाटो,आरिस्टा-टल, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ, डिकेम वगैरह सबको पढता गया। मार्क्स भी पढ गया, हालॉकि शुरु-शुरु मे समझने मे कठिनाई पडी। अर्थशास्त्र के नये या पुराने साहित्य से भी परिचय करने की चेप्टा की, पर जितना पढा, उससे हजम कुछ ज्यादा किया। जो पढता, उसपर अपनी स्वतत्र राय भी कायम करता। तिलक के 'गीता-रहस्य' ने हिन्दू-दर्शनो का अनुपम दिग्दर्शन कराने मे मुझे सहायता दी। स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ-प्रकाश' ने खडन करने की वृत्ति पर प्रकाश डाला।

पर यह नही कह सकता कि इन पुस्तको ने मुझपर कोई प्रभाव डाला। अग्रेजी के बाद फ्रेच की ओर भी रुचि बढी। वह भी कुछ सीखी। यह सारा क्रम आज भी चल रहा है।

जिज्ञासा जारी है। कमियो का भान है। **'अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामार्थ च चिंतयेत।'** अपने-आपको मनुष्य अजर-अमर मानकर पढता जाय, यह सबक मैंने सीखा। इसे सीखने से ही मनुष्य अपने अज्ञान की, अपनी तुच्छता की और ईश्वर की महानता की अनुभूति करता है।

कार्य मे व्यस्त रहते हुए भी पढने के लिए मुझे अब भी समय मिल ही जाता है। साल मे पन्द्रह-बीस अच्छी पुस्तकें भिन्न-भिन्न विषयो पर पढ लेता हूँ। इसके माने यह नही कि पुस्तक की एक-एक पक्ति पढ डालता हूँ। पुस्तक के सार की तरफ अधिक आकर्षण रहता है, बनिस्बत उसके निरर्थक बनाव-शृगार के। जैसाकि विनोबाजी ने कहा है, "मै सन्तरे खाता हूँ, पर उसके छिलके या बीज नही", मै पुस्तक पढता हूँ, पर उसके बनाव और शृगार को नही।

शिक्षा-सम्पादन की इस मेरी अजीब पद्धति से यह पक्का स्वभाव बन गया कि बिना शिक्षक की सहायता से ही विद्या-उपार्जन करने की कोशिश करूँ। इसलिए जो भी कुछ स्कूल छोडने के बाद सीखा, वह अपने खुद के परिश्रम से और पुस्तको की सहायता से। गुरु से सीखने के प्रति मेरी अरुचि शायद शुरू से ही रही है, और यह अरुचि अब स्वभावतया इस उम्र मे और भी बढ गई। सगीत भी सीखा और सीखना अब भी जारी है, पर सीखा रेकार्डो की बदौलत।

कुछ ऐसा लगता है कि हमने गुरु पर आवश्यकता से अधिक बोझ लाद दिया है। गुरु का आवश्यकता से अधिक सहारा लिया है। यह मेरी समझ मे मानसिक आलस्य के लक्षण है।

गुरु. ब्रह्मा, गुरुः विष्णु गुरु देवो महेश्वर.।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मात् श्री गुरवे नमः ॥

यहाँ 'तस्मै' के स्थान पर 'तस्मात्' पाठ रखकर इसका अर्थ कुछ भिन्न लगाना चाहिए। अर्थात् गुरु ब्रह्मा ही है, गुरु विष्णु ही है, महेश्वर ही है और परब्रह्म ही है, इसलिए गुरु अर्थात् ईश्वर को नमस्कार करता हूं। ईश्वर कहो, परमात्मा कहो या अपनी आत्मा कहो, तात्पर्य एक ही है। मेरा खयाल है कि मनुष्य को स्वय ही अपने-आप का गुरु बनना चाहिए। दत्तात्रेय ने पशु-पक्षियो तक से सीखा, पर स्वय ही तो सीखा। गेलीलियो, एडीसन, वेंजामिन फ्रेकलिन, जेम्स वाट, मैडम क्यूरी इन सबने नये-नये आविष्कार गुरु से सीखकर नही किये, खुद अपने-आप ही किये। इसलिए मनुष्य गुरु का अनावश्यक आश्रय न लेकर स्वय अपने-आप को गुरु बनाये, तभी वह प्रगति कर सकता है। तोते की तरह रटत करनेवाला तो तोता ही रह जाता है।

पर मेरी इस पद्धति का सभी अनुसरण न करे, क्योकि इसमे भय भी है। पर एक चीज, जिसका मै जोरो से समर्थन करना चाहता हूं, वह यह है कि जो छात्र स्कूल या कालेज मे अध्ययन करते है, वे घर पर अध्यापक को बुलाकर न पढे। अमरीकी पद्धति यह है कि कालेज मे प्रोफेसर छात्रो को कुछ

पढाते है और घर पर उनको पुस्तको के अध्ययन से ज्ञान-उपार्जन करना पडता है, अध्यापक छात्रो को एक काल्पनिक परिस्थिति देते है और उनसे, उस परिस्थिति को सुलझाने का कौन-सा तरीका हो सकता है, यह पूछते है। इसे 'क्विज' कहते है। हर हफ्ते ये 'क्विज' छात्रो को मिलते है। उन्हे स्वतत्र अध्ययन करके उसका उत्तर भेजना पडता है। यही उनकी परीक्षा है। और सही उत्तर के माने है परीक्षा मे उत्तीर्ण होना।

हमारे यहाँ की परीक्षा की पद्धति से यह विलकुल निराली है और अच्छी है, क्योकि छात्र को यह स्वावलम्बी वनाती है। यदि छात्र उत्तीर्ण नही होता तो वह लम्बा अर्सा लेकर उत्तीर्ण होने की कोशिश करता है। पर हर हालत मे उसे स्वतत्र विचार और अध्ययन करना पडता है। इसलिए घर पर प्रोफेसर को वुलाकर पढना और उसका आश्रयी वनना, यह छात्र की स्वतत्र वुद्धि को नष्ट कर देता है और उसे गुलाम वना देता है। इसलिए इतनी सिफारिश तो अवश्य करूँगा कि विद्या के अर्थी स्वतत्र वने, गुरु के आश्रयी न वने।

मेरा यह भी मानना है कि गुरु सर्वविद् नही होते। गुरु भी कई अशो मे उतना ही वुद्धू है, जितने कि हम सव है। मैने वडे-वडे विद्वानो को मूर्खता की वाते करते पाया है। एक वडे विद्वान् ने मुझे चकित कर दिया, जव उसके मुंह मे सुना कि उनकी कौटुम्विक दुर्गा सवा रुपये का प्रसाद पाकर उसे वडी-वडी आफतो से ऐन मौके पर वचा लेती है। वैज्ञानिको को मैने भूत-प्रेत की वात करते सुना है। इग्लैण्ड के एक वडे वैज्ञानिक भूतात्मा को वुलाकर उससे वार्तालाप करने का दावा

करते थे। यहाँ भी ऐसे अंध-भक्तो को देखा है, जो कहते हैं कि उन्हे पेंसिल से लिखकर प्रेतात्मा परलोक का हाल बताती है! भोले लोग चाहे अष्टग्रह और ऐसी-ऐसी अनहोनी बातो पर विश्वास करे, पर पढे-लिखे लोग भी ऐसी बाते करे, तो मान लेना, यह अज्ञान की निशानी है। सो मूर्खता का ठेका अपढो के पास ही नही है, पढे-लिखे लोग भी जादू, मत्र, ज्योतिष, भूत-प्रेत और अन्य वहमो के उतने ही शिकार है, जितने कि ग्रामीण अनपढ।

न किसी एक पुस्तक को ही सम्पूर्ण मानना चाहिए, चाहे वह कितनी ही 'आप्त' क्यो न हो। आप्त प्रमाण मानना ही चाहिए, ऐसे विश्वास मे काफी खतरा है। इसलिए गुरु का वाक्य या किसी ग्रथ का वाक्य अभ्रान्त है, ऐसा मानने मे बुद्धि का ह्रास है। मेरा आग्रह यह है कि हम निरालम्ब होकर ही जिज्ञासा की तृप्ति करे। इसके यह माने नही कि हम अपने अग्रज विद्वानो और महापुरुषो के अनुभव का लाभ न ले, पर लाभ भी तभी मिलेगा, जब हम हर पुराने विचार का स्वतत्रतापूर्वक निर्णय करे, स्वतत्रतापूर्वक उसे बुद्धि की कसौटी पर कसकर स्वतत्र निर्णय करे। इस दृष्टि से मैं महज श्रद्धा का अत्यन्त विरोधी हूँ। ईश्वर मे मेरी श्रद्धा है। वह इसलिए कि बुद्धि के प्रयोग से हम देखते है, अनुभूति करते है कि कोई ऐसी शक्ति है, कोई ऐसा कुदरत का कानून है, जो विश्व के तत्र को सुचारु रूप मे चलाता है। हायड्रोजन का आणविक वजन निरन्तर १ ही क्यो रहता है चाहे हम उसे कितना ही उलट-पुलट क्यो न करे, और

ऑक्सिजन का १६ ही क्यो ? सूर्य-मडलके चारो ओर ग्रह निरन्तर एक ही शुद्ध गति से क्यो घूमते है ? और, अणु के प्रोटीन के चारो ओर ग्रहो की तरह इलेक्ट्रोन क्यो एक ही चाल से निरन्तर घूमते रहते है ? यह सादृश्य क्यो है ? इसका उत्तर वैज्ञानिक भी नही दे सके, क्योकि वैज्ञानिको का निर्णय है कि साइस की चरम सीमा से ही ईश्वर का आरम्भ होता है। यह कोरी श्रद्धा की बात नही है। हमारी बुद्धि बताती है कि जो कुछ विश्व का व्यवहार चलता है, वह महज आकस्मिक नही, बल्कि उसके पीछे कोई सत्ता है। इसे ईश्वर कहो, प्रकृति कहो, कुदरत का कानून कहो, इससे कोई बहस नही, पर जिसके पीछे स्वतत्र विचार न हो, ऐसी खालिस श्रद्धा आलस्य और मूर्खता की निशानी है। 'बुद्धौ शरणं अन्विच्छ', तू बुद्धि की शरण ले। जो सीखा वह पूर्ण नही है। 'नेति नेति' इस सिद्धान्त का कायल होने से मै कोरी श्रद्धा का बिलकुल हिमायती नहीं हूँ।

मैने स्कूल और कालेज की शिक्षा नही पाई, इसका कोई पछतावा नही, क्योकि इसके लाभ और हानि को जानता हूँ। हानि तो प्रत्यक्ष है, कालेज मे पढता तो कई बाते ज्यादा जानता, मेरा कुछ अशो मे मार्ग सुगम होता, पर लाभ यह है कि बुद्धि को स्वतत्रता के साथ विचारने की आदत पड गई। अध्यापक के पास पढने से यदि छात्र मे श्रद्धा हो तो अध्यापक का बुरा असर भी पड जाता है। बताया गया था कि तत्त्व पाँच होते है। पीछे से पता चला कि तत्त्व तो एक सौ से अधिक है और नये-नये भी प्रकट हो रहे है। अध्यापक की सिखाई गलतियो

को सुधारने मे समय अधिक लगता है, बनिस्बत अपनी की गई गलती सुधारने के। इसके लिए दिमाग की खिडकी खुली होनी चाहिए। अश्रद्धा से सनी हुई श्रद्धा ही मनुष्य को सस्कृत विचार देती है।

शिक्षा कैसी हो ?—इसपर भी वाद-विवाद है।

शिक्षण-क्रम के सम्बन्ध मे हर मुल्क मे असतोष रहा है। क्या परिवर्तन हो, इसपर भी भिन्न-भिन्न मत रहे है। पर इसका निर्णय महज विद्वानो का ही क्षेत्र नही है। मेरे-जैसे लोगो को भी, जिन्होने ससार की पाठ्य पुस्तको से ही अनुभव प्राप्त किया है, राय देने का अधिकार तो है ही। इस अधिकार के नाते मेरा खयाल है कि कुछ मूलभूत सिद्धान्तो पर तो राय कायम हो ही सकती है। हॉ, राय देना सहज है, पर उस राय को कार्यान्वित करने के लिए क्या करना चाहिए, यह कठिन समस्या है, और यह विशेषतया शिक्षको के क्षेत्र की बात है।

मूलभूत सिद्धान्तो मे हम अपनी राय दे, तो एक तो मेरा यह आग्रह है कि छात्रो की शिक्षा एकागी नही होनी चाहिए। उनका पठन विविध विषयो का होना चाहिए, अर्थात् विज्ञान या इजीनियरिंग का छात्र महज लैबोरेटरी या वर्कशाप तक ही सीमित न रहे, उसका दायरा अन्य क्षेत्रो मे भी थोडा-थोडा होना चाहिए। आजकल ह्यूमेनिटी के नाम से अन्य विषयो का भी विज्ञान और इजीनियरिंग की शिक्षा मे प्रवेश हुआ है, पर यथेष्ट नही। बात तो यह है कि आर्ट का छात्र थोडी-थोडी साइस और इजीनियरिंग जाने, और साइस और इजीनियरिंग के छात्र इतिहास, फिलासफी भी कुछ

मात्रा मे जाने, यह आवश्यक है। कुछ-कुछ सब विषयो का और अत्यधिक एक विषय का ज्ञान हो, पाठ्यक्रम की बुनियाद ऐसी होनी चाहिए।

आज की परीक्षा की पद्धति को बदल देना चाहिए। परीक्षा छात्र के ज्ञान की हो, न कि परचे की। छात्र की सफलता-असफलता का निर्णय उसके ज्ञान और व्यवहार, उसकी नेतृत्व-शक्ति इत्यादि से करना चाहिए।

नैतिक शिक्षा का अभाव दूर करना चाहिए। छात्र को सिखाना चाहिए कि वह जाति-पाँति और प्रान्त के बधनो से अपना विकासोन्मुख व्यक्तित्व खो बैठेगा। तरह-तरह के वहमो से उसे मुक्त होना चाहिए। स्वतत्र विचार करने की शक्ति को पोषण देना चाहिए।

पर यह सब कहना आसान है, इसे कार्यान्वित करने मे परिश्रम और उडान की जरूरत है। मुख्य वस्तु, जो इसमे सहायक हो सकती है, वह है अध्यापक और सस्था का वातावरण। अध्यापक का पद प्रतिष्ठा का होना चाहिए। वेतन खासा अच्छा देना चाहिए। सस्था की सफाई, सुघडाई पर भी जोर होना चाहिए।

यह सब होते हुए भी असल वातावरण तो छात्र के कुटुम्ब का है, और कुटुम्ब का वातावरण उज्ज्वल तब होगा, जबकि देश सुशिक्षित और सस्कृत होगा। ये सब चीजे अन्योन्याश्रित है।

इसके माने यह है कि धीरज से आगे बढना पडेगा। एक दिन मे कोई भारी परिवर्तन हो जाय, ऐसी आशा 'आकाश-

कुसुम' के समान है। पर उद्योग करना है और आदर्श संस्था स्थापित करनी है। कठिनाइयाँ तो आती ही रहेंगी। संघर्ष मनुष्य का धर्म है। 'मामनुस्मर युद्ध्य च'--भगवान् के भरोसे आगे बढते जाना है। पर शायद यह विषयांतर हो गया।

२० दिसम्बर, १९६२

: ३ :

मेरे जीवन में गांधीजी

गाधीजी के साथ मेरा पहला सपर्क सन् १९१५ मे हुआ, जबकि दक्षिण अफ्रीका से लौटने के थोडे ही दिनो बाद वे कलकत्ता आये थे। पूरे ३२ वर्ष, अर्थात् दिल्ली-स्थित मेरे मकान मे उनके स्वर्गवास तक, यह सम्पर्क बना रहा। मै उनके सम्पर्क मे आया कैसे? भाग्य के अदृश्य हाथ बडे रहस्यमय ढंग से सूत्र-सचालन किया करते है। मेरे जीवन के इस सौभाग्यशाली मोड का सारा श्रेय भी इन्ही अदृश्य हाथो को है। मेरे पीछे कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नही थी। इसलिए किसी विश्व-विख्यात व्यक्तित्व का कृपाभाजन बनने की योग्यता मुझमे नही के ही बराबर थी। मेरा जन्म सन् १८९४ मे एक ऐसे गाँव मे हुआ था, जिसकी आबादी मुश्किल से तीन हजार होगी। गॉव भी ऐसा, जहॉ बाकी दुनिया से सम्पर्क के लिए कोई भी आधुनिक यातायात-साधन नही था। न रेल, न पक्की सडक, न डाक-घर—दुनिया की राजनैतिक हलचलो से एकदम असम्बद्ध। आवागमन के साधन या तो ऊँट अथवा घोडे थे, या रथ-बहली, जो खानदानी अमीर लोग ही रखते थे और जिनका इस्तेमाल ज्यादातर औरतो या अशक्त लोगो के लिए होता था। घोडे इक्के-दुक्के ही थे और ज्यादातर जागीरदारो की सवारी के ही काम आते थे। ऊँट ही यहा यात्रा के लिए सबसे ज्यादा

उपयोगी पशु रहा है। हमारे परिवार मे दो बहुत बढिया ऊँट थे और बाद मे हम लोगो के यहाँ एक रथ भी था। किन्तु लोग दूर का सफर ऊँट पर करना ही पसन्द करते थे। मुझे तो उसकी सहनशीलता, धीरज और मूढता ने हमेशा अपनी ओर आकर्षित किया है। उन दिनो की याद मुझे आज भी झकझोर जाती है, जब एक बार लगातार छ दिन तक ऊँट पर सफर करना पडा था।

चार साल की उम्र मे मुझे पढाने के लिए अध्यापक रक्खे गए, जो पढने-लिखने की अपेक्षा गणित ज्यादा जानते थे। इस तरह मेरी शिक्षा का श्रीगणेश अक-ज्ञान, जोड-बाकी, गुणा-भाग से हुआ। नौ वर्ष की उम्र मे मैंने अग्रेजी की थोडी-सी जानकारी के साथ कुछ पढना-लिखना सीख लिया और फिर सिर्फ ग्यारह साल की उम्र मे प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिग' के साथ मेरी शिक्षा समाप्त भी हो गई।

मेरे प्रपितामह एक व्यापारी पेडी पर सिर्फ दस रुपये माहवार पर 'मनेजर' थे। उनके देहान्त के बाद मेरे पितामह ने अठारह साल की अवस्था मे अपना स्वतत्र व्यवसाय शुरू करने का निश्चय किया और वे समृद्धि की खोज मे बबई पहुँचे। बाद मे मेरे पिताजी ने व्यापार को बढाया और मेरे जन्म के समय तक हमारी गणना काफी सम्पन्न परिवारो मे होने लगी थी। करीब पैतीस वर्ष से हमारा व्यापार उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ चलता आ रहा था। अत जब मेरी उपयुक्त शिक्षा समाप्त हुई तो मुझे भी अपने वशगत व्यापार मे जोत दिया गया। लेकिन मुझे पढने का शौक था। स्कूल छोडने के बाद

भी अपने ही ढग से मैंने पढना चालू रक्खा। अध्यापक से पढना मुझे पसन्द नही था। इसलिए स्कूल छोडने पर किताबे, अखबार और शब्द-कोष ही मेरे मुख्य शिक्षक रहे।

इस भाँति मैने अग्रेजी, सस्कृत तथा एक या दो अन्य भारतीय भाषाएँ, इतिहास और अर्थशास्त्र पढे। मैने काफी सख्या मे जीवन-चरित तथा यात्रा-विवरण भी पढे, जिनका मुझे अभी भी शौक है।

हो न हो, मेरे अध्ययन ने ही मुझे देश की राजनैतिक स्वतत्रता के लिए प्रयत्नशील बनने तथा तत्कालीन राजनैतिक नेताओ के साथ सम्पर्क कायम करने की प्रेरणा दी थी। रूस और जापान के युद्ध ने एशियाई राष्ट्रो मे उत्साह की लहरे पैदा कर दी थी और भारत भी अपनेको इससे अलग नही रख सका। मेरे बाल-हृदय की सहानुभूति निश्चय ही जापान के साथ थी और भारत को फिर से स्वाधीन देखने की आकाक्षा मेरे भीतर हिलोरे मारने लगी। लेकिन जिस परिवार, गाँव या जाति मे मेरा जन्म हुआ था, उसको राजनीति के प्रति मेरी दिलचस्पी उतनी भली नही लगती थी।

मेरे ये मनोभाव गाधीजी के प्रति मुझे आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त नही थे। मेरी यही धारणा है कि भाग्य की दया ने ही मुझे उनके पास तक पहुँचाया।

जब मै सोलह वर्ष का हुआ, मैने दलाली का अपना स्वतत्र व्यवसाय शुरू किया। यहीं से अगरेजो के साथ मेरे सम्पर्क का प्रारम्भ हुआ। उनमे मेरे साहूकार और ग्राहक दोनो थे।

इसी प्रसग मे मुझे उनकी समुन्नत व्यापारी-प्रणालियाँ, सगठन-शक्ति और अन्य अनेक विशेषताएँ देखने का अवसर मिला। साथ ही इनका जातिगत अभिमान भी मुझसे छिपा नही रह सका। मै इनके यहाँ जाने के लिए न तो उनके लिफ्ट का ही व्यवहार कर सकता था और न इनसे मिलने की प्रतीक्षा करते समय इनकी बेंचो पर ही बैठ सकता था। इस प्रकार के अपमान-जनक व्यवहार से मै तिलमिलाकर रह जाता था। इसी ठेस ने मेरे भीतर राजनैतिक दिलचस्पी पैदा की, जिसे मै सन् १९१२ से आजतक निभाता चला आ रहा हूँ। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक तथा श्री गोखले को छोडकर और कोई राजनैतिक नेता नही, जिसके सम्पर्क मे मै नही आया। देश का कोई ऐसा राजनैतिक आन्दोलन नही रहा, जिसमे मैने दिलचस्पी न रक्खी हो, अथवा अपने ढग से उसे मदद न दी हो।

इन दिनो एक बार आतकवादियो से सम्बद्ध हो जाने के कारण मुझे काफी परेशानी उठानी पडी और लगभग तीन महीने के लिए गुप्त वास मे रहना पडा। कुछ सहृदय मित्रो के हस्तक्षेप से ही मै जेल जाने से बच सका। वास्तव मे, आतक-वाद के प्रति मेरा विशेष अनुराग कभी नही रहा और गाधीजी के सम्पर्क मे आने के बाद तो उसका रहा-सहा अस्तित्व भी खत्म हो गया।

इस पृष्ठभूमि के साथ यह स्वाभाविक ही था कि मै गाधी-जी की ओर आकृष्ट होने का तकाजा महसूस करता। एक आलोचक के रूप मे मै उनके निकट आया और अन्त मे उनका अनन्य भक्त बन गया। फिर भी यह कहना बिलकुल असत्य

होगा कि गाधीजी के साथ सब विषयो पर मेरा मेल खाता था। वस्तुत अधिकाश समस्याओ पर मेरा अपना निजी मत था। रहन-सहन के बारे मे हम दोनो मे कोई साम्य नही था। गाधीजी एक सन्त पुरुष थे, जिन्होने जीवन के सारे सुख-भोगो का त्याग कर दिया था। धर्म ही उनका मुख्य विषय था, जिसने मुझे इतने आग्रह के साथ उनकी ओर खीचा। अर्थशास्त्र के बारे मे भी उनका दृष्टिकोण मुझसे भिन्न था। वे छोटे पैमानेवाले उद्योग-धधो—चर्खे, करघे, घानी आदि—मे विश्वास रखते थे। इसके विपरीत मै काफी सुख-सुविधा की जिन्दगी बिताता और बडे-बडे उद्योग-धधो के माध्यम से देश के औद्योगीकरण मे विश्वास करता था। इतने पर भी हम दोनो के बीच इतना घनिष्ठ सबध कैसे बना रहा ? मै क्यो उनके विश्वास और स्नेह को प्राप्त करता रहा ?—इसके लिए मै तो मुख्यत उनकी महानता और उदारता का ही आभार मानता हूं। मुझे ऐसे लोग कम ही मिले है, जिनमे गाधीजी का-सा आकर्षण हो और जो अपने मित्रो के लिए इतना स्नेह और अनुराग रखते हो। ससार के लिए सन्त उत्पन्न करना बहुत कठिन नही है, राजनैतिक नेता भी दुनिया मे काफी पैदा होते रहते है, मगर सच्चे मानव इस दुनिया मे कम ही मिलते है। गाधीजी मानवो मे एक महामानव थे। ऐसी विरल विभूतियाँ धरती प्रत्येक सदी मे पैदा नही करती और अभी तक लोगो ने गाधीजी के मानव-रूप के बारे मे जाना ही कितना थोडा है !

मैने कहा, बहुत-सी समस्याओ पर गाधीजी के साथ मेरा मेल नही खाता था, फिर भी उनका कोई आदेश मानने मे

मैने कभी इन्कार नही किया। दूसरी ओर उन्होने भी मेरे विचार-स्वातन्त्र्य को सहन-भर ही नही किया, बल्कि इसके लिए वे मुझे उतना ही ज्यादा प्यार भी करते रहे, जितना कोई पिता अपने बच्चे को करता है। इसीलिए हमारा सबध एक तरह से पिता-पुत्र के पारिवारिक लगाव-जैसा हो गया था, जो उनके जीवनकाल तक बराबर अक्षुण्ण बना रहा।

अतिम बार उनके जो दर्शन मैने किये, वे उनके भौतिक अवशेष-मात्र के थे। यह भाग्य की क्रूरता थी कि जब उन्होने अन्तिम सास ली तो मै उनके पास नही था। उनके निधन के केवल दस घटे पूर्व ही मै उनसे अलग हुआ था। मुझे अपने गॉव, जो दिल्ली से १२० मील दूर है, जाना पडा था। वहॉ मै एक प्रमुख मत्री को अपनी शिक्षा-सस्थाओ का निरीक्षण कराने के लिए ले गया था। मैने सात बजे सुबह अपना घर छोडा था। प्रस्थान से पूर्व मै गाधीजी के कमरे मे उनसे विदा लेने गया था। लेकिन वे विश्राम की गहरी नीद मे सो रहे थे, इसीलिए मैने उन्हे जगाया नही। इसके दस घटे बाद पिलानी मे मेरा पुत्र मेरे पास दौडा हुआ आया और उसने मुझे बताया कि रेडियो ने घोषित किया है—"हत्यारे ने गाधीजी को गोली मार दी।" मै विश्वास न कर सका, लेकिन कबतक अविश्वास करता!

तत्काल दिल्ली लौट जाना सभव नही था। अभी भी हमारा गॉव रेल या सडक से सबद्ध नही है। मुझे रात वही बितानी पडी। नीद बीच-बीच मे उचट जाती थी। मैने सपना देखा कि मै दिल्ली के अपने घर मे वापस चला गया

हूं, जहाँ गाधीजी रहते थे और जहाँ उनका देहान्त हुआ था। मैं उस कमरे मे गया, जहाँ उनका शव रक्खा हुआ था। मेरे कमरे मे प्रवेश करते ही वे उठ बैठे और बोले, "मुझे खुशी है कि तुम वापस आ गए। यह गोली-काड कोई निरुद्देश्य घटना नही थी, वरन् एक गहरा षड्यत्र था। लेकिन मै खुश हूँ कि उन्होने मेरा अन्त कर दिया। मै अपना काम कर चुका हूँ और इस प्रस्थान का मुझे जरा भी दु ख नही है।" कुछ देर तक हम लोग बाते करते रहे। उसके बाद उन्होने अपनी घडी निकाली और कहा, "अब शव-यात्रा का समय हो गया है। लोग मुझे ले जाने आयेगे, इसलिए मै लेट जाता हूँ।" वे पुन लेट गए और नि स्पन्द हो गए। कैसा अद्भुत स्वप्न ! शायद यह मेरे अपने हृदय की ही प्रतिध्वनि थी।

दूसरे सुबह मै दिल्ली लौटा और उस कमरे मे गया, जिसमे उनका मृत शरीर रक्खा हुआ था। लाखो की जन-मेदिनी से बिडला-भवन घिरा था। गाधीजी का शरीर पडा था शान्त, अविचल। ऐसा नही प्रतीत होता था कि वे मर गए है। यही था उनका अन्तिम दर्शन, जो मैने किया। १६ जून, १९४० के एक पत्र मे महादेवभाई ने मुझे लिखा था—"लार्ड लिनलिथगो के प्राइवेट सेक्रेटरी का एक पत्र आया है, जिसमे उन्होने लिखा है—'जर्मन वायरलैस ने यह खबर प्रचारित की है कि ब्रिटेन के गुप्त एजेट गाधीजी की हत्या करने की योजना बना रहे है। इच्छा विचार की जननी है और इसीलिए आशका है, कदाचित् जर्मनी के एजेट ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार करने के उद्देश्य से इस तरह की कुछ योजना बनाये। पहले से ही सतर्क रहना

हममे से प्रत्येक के लिए हितकर होगा। अत गाधीजी स्वीकार करे और उनके काम मे विघ्न न पडे तो रक्षा के लिए पुलिस की पूरी व्यवस्था करने मे हिज एक्सेलेंसी को बडी खुशी होगी।"

महादेवभाई ने इसका उत्तर दिया था—"गाधीजी ऐसा कोई प्रवन्ध नही चाहते। जीवन-भर हत्या की धमकी से घिरे रहकर, अनुभव के आधार पर, उन्होने यह धारणा दृढ बना ली है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता तक हिल नही सकता। न कोई हत्यारा किसीके जीवन की अवधि कम कर सकता है और न कोई मित्र ही किसीको मृत्यु से बचा सकता है।" मुझे लिखे पत्र मे महादेव ने लिखा था कि वह उत्तर बापू की ही भाषा मे लिखा गया था।

उनके अन्त के आठ साल पहले से ही घटनाएँ कितनी खूबी से अपनी छाया फैला रही थी, लेकिन इस नियति का निमित्त न तो कोई जर्मन बना और न कोई अगरेज ही। वह हत्यारा तो था एक भारतीय, एक कट्टर हिन्दू।

गाधीजी को बम द्वारा मारने के निष्फल प्रयत्न के बाद सरकार द्वारा उनकी सुरक्षा की बडी सुदृढ व्यवस्था की गई थी, यहाँ तक कि मेरे घर के कोने-कोने मे सन्तरी तथा सादी पोशाक वाले हथियारबद पुलिस चक्कर काटते दीख पडते थे। इतनी ज्यादा सतर्कता मुझे अच्छी नही लगी।

सन् १९१३ मे तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने गये हुए थे। इसके पूर्व जब वे नई राजधानी मे समारोहपूर्वक प्रवेश कर रहे थे, तो उनपर एक बम फेंका गया था। इसलिए बनारस मे उनकी

हिफाजत के लिए काफी बडी व्यवस्था की गई थी। तालाबो तक मे बदूको और रिवाल्वरो से लैस पुलिस तैनात की गई थी। गाधीजी को यह सब आडम्बर नापसद आया और उन्होने सरे-आम इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि इस तरह तो वायसराय लार्ड हार्डिज जिन्दगी मे ही मौत के दिन बिता रहे है।

मैने गाधीजी के सामने उनके इस अभिमत को दुहराया और कहा, "क्या यह अनुचित नही लगता कि हम प्रार्थना भी बन्दूको की छाया मे करे ? आपका जीवन अत्यन्त मूल्यवान् है, लेकिन उससे भी ज्यादा मूल्यवान् है आपकी कीर्ति। अत क्या आप इस भॉति पुलिस का अतिशय प्रबन्ध पसन्द करते है, जबकि आपने आजीवन इससे घृणा की है ?"

गाधीजी ने मेरे साथ सहमत होते हुए कहा, "इस सबध मे वल्लभभाई से बाते करो, जो इस सारे प्रबन्ध का जिम्मेदार है। मै इस तरह के प्रबन्धो से नफरत करता हूँ। लेकिन मुझे यह सब अपनी रक्षा के लिए नही, बल्कि सरकार की कीर्ति-रक्षा के लिए सहन करना पडता है।" मैने सरदार से भी बाद मे इस प्रसग मे बाते की और जैसी कि उनकी आदत थी, उन्होने थोडे मे ही जवाब दिया, "तुम इसके लिए क्यो चिता कर रहे हो ? यह तुम्हारा काम नही है, यह जिम्मेदारी मेरी है। अगर मेरा बस चलता तो बिडला-भवन मे प्रवेश करनेवाले हर आदमी की मै तलाशी लेता। लेकिन बापू मुझे ऐसा नही करने देते।" आखिर दुर्भाग्य की क्रूर इच्छा पूर्ण हुई। जैसा कि गाधीजी की ही भाषा मे महादेव ने लिखा था, कोई मित्र

उन्हे नही बचा सका। मै स्वय अपनी बैल्ट मे पिस्तौल छिपाये हुए प्रार्थना मे शामिल होता था और उनकी ओर आनेवाले हर आदमी पर नजर रखता था। लेकिन यह सब हमारा वृथाभिमान था। एक पत्ता भी ईश्वर की इच्छा के बिना नही हिलता।

इस घटना के लगभग दो बरस बाद ही दूसरे महान् पुरुष चल बसे, जिनके साथ भी मेरा ऐसा ही प्रगाढ सम्बन्ध था। यह थे सरदार पटेल। सरदार हर प्रसग मे महात्मा गाधी के दृढतम अनुयायी थे। आत्म-सयम के विषय मे तो और भी अधिक। वे लौह-पुरुष कहलाते थे, लेकिन उनकी इस ऊपर से ओढी हुई कठोरता के नीचे कोमलता और उदारता की अपरिमित राशि छिपी रहती थी। वे भी स्वतत्र विचार के व्यक्ति थे, तो भी हर मामले मे, चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक, वे अपने गुरु के चरण-चिह्नो पर ही चलते थे। व्यक्तिगत तौर पर, अकेले मे, वे उनसे झगड लेते थे, किन्तु बाहर सदैव उनका अनुकरण ही करते थे। यह कितने अचरज की बात है कि भारत मे बहुत-से बडे-बडे व्यक्ति गाधीजी के विचारो से असहमत होते हुए भी सदैव उनके अविचल अनुयायी बने रहे। निसदेह मित्रो के प्रति उनके प्रगाढ अनुराग और आत्मीय भाव ने ही इस विरोधाभासी चमत्कार को सभव कर दिखाया था। इसीलिए सरदार यद्यपि कुछ प्रसगो पर उनसे सहमत नही होते थे, फिर भी बिना आनाकानी के प्रत्येक अवसर पर वे गाधीजी के इच्छानुसार ही चलते थे। गाधीजी के मृत्यु के बाद सरदार हृदय-रोग से पीडित हो गए। गाधीजी की मृत्यु

से उनके हृदय को बडा तीव्र आघात लगा था। कोई साधारण मनुष्य होता तो शोक के इस आवेग को रोकर हल्का कर लेता, किन्तु सरदार ने शोक को प्रकट नही होने दिया। फलत यह उनके हृदय मे समाकर रह गया। मै उनके सम्पर्क मे उनकी मृत्यु के लगभग अट्ठाइस वर्ष पूर्व आया था। तब से अन्त तक हम दोनो का स्नेह-सम्पर्क अक्षुण्ण बना रहा।

सरदार भी मेरे ही घर मे मरे और भाग्य का यह दूसरा व्यग था कि उनके अन्तिम क्षणो मे भी मै उनके साथ नही था। अपनी मृत्यु के चार दिन पूर्व वे दिल्ली से ववई चले आये थे। मन्त्रिगण तथा बहुत वडी सख्या मे उनके मित्र हवाई अड्डे पर उनको विदा देने आये थे। हवाई जहाज के दरवाज़े पर एक कुर्सी पर बैठे हुए उदासी-भरी मुस्कान से उन्होने प्रत्येक का अभिवादन किया। वे जानते थे कि उनका प्रयाण-काल सन्नि-कट है। मै भी जानता था कि वे शीघ्र ही अनन्त यात्रा को प्रस्थान करनेवाले है, लेकिन मैने अपनेको वरवस यह विश्वास दिलाया कि नही, अन्त अभी इतना निकट नही है। इसके चार रोज वाद तो उन्होने हमेशा के लिए विदा ही ले ली। अन्त मे सरदार का भी मृत शरीर ही मुझे देखने को मिला।

महादेव देसाई का सन् १९४२ मे आगाखॉ-महल मे देहान्त हो चुका था। यह महल उस समय कारागार मे परिवर्तित कर दिया गया था। वह मेरे अभिन्न मित्र थे। अपने प्राण उन्होने अपने गुरु की गोद मे छोडे। उस समय उनका कोई मित्र उनके निकट नही था। सहृदयता की तो मानो वह मूर्ति थे। महादेव का निर्माण महात्माजी के द्वारा हुआ था, किन्तु यह कहना भी

गलत नही होगा कि कुछ अशो तक महादेव ने भी महात्माजी को अपने साँचे मे ढाला था। महादेव देसाई का व्यक्तित्व भी बडा आकर्षक और स्नेहशील था। वह बडे विद्वान् एव हृदयग्राही थे। जब कभी बापू किसी बात की जिद पकड लेते तो सिर्फ सरदार और महादेव ही उन्हे अपने पथ मे विचलित कर सकते थे। कभी बापू क्रोधावेश मे झुकते और कभी मुक्त कहकहे के बाद।

कल्पना कीजिए, यदि ये तीनो आज कुछ वर्षों का और आयुर्बल लेकर पूर्ण स्वस्थ जीवित रहते तो कैसा होता भारत का इतिहास! किन्तु यह तो निरुद्देश्य कल्पना है। मेरा विश्वास है कि कोई भी मनुष्य अपना काम पूरा करके ही इहलोक से प्रस्थान करता है। इसलिए इन मृतात्माओ के प्रति शोक करना निष्प्रयोजन है। अब तो उत्तरदायित्व का भार आज की और भविष्य की पीढी पर है।

१८ जुलाई, सन १९३५ को मै श्री बाल्डविन से लदन मे मिला था। वार्तालाप के सिलसिले मे उन्होने निम्नलिखित अभिमत प्रकट किया था—"लोकतत्र की अपनी खास खामियाँ होती है। लेकिन अबतक की शासन-पद्धतियो मे यह सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। ईश्वर को धन्यवाद है कि इस देश मे अधिनायक-तत्र (तानाशाही) नही है। श्रेयोन्मुख अधिनायक-तत्र अपने तरीके पर अच्छी चीज है, लेकिन तब तो ऐसे अधिनायक-तत्र मे आपको निष्क्रिय बैठे रहने के सिवा और कुछ नही करना रहता। आज यह नही हो सकता। लोकतत्र मे आप सबको काम करना पडता है और यही है लोकतत्र की सबसे अच्छी

खूवी। यदि हर व्यक्ति काम करेगा तो भारत मे यह प्रयोग अवश्य कृतकार्य होगा। यदि प्रत्येक आदमी काम नही करेगा तो लोकतत्र का यह प्रयोग कभी सफल नही हो सकेगा। लोकतत्र मे एक वर्ग ही दूषित हो सकता है। इगलैड या भारत मे ऐसे वर्ग मौजूद है, जो दूषित होगे ही, किन्तु हमे इन वर्गो के आधार पर सारी जनता का मूल्याकन नही करना चाहिए; और काग्रेस का जहाँ तक सवाल है, उसे तो यह वात महसूस कर ही लेनी चाहिए कि देशहित का अभी वहुत वडा क्षेत्र उसके सामने पडा है।"

लोकतत्रात्मक सरकार की स्थापना का दायित्व ग्रहण करने के वाद, वापू ने १८ जुलाई १९३७ को मुझे लिखा था—"हमारी वास्तविक कठिनाई तो अव शुरू होती है। हमारा भविष्य हमारी दृढता, सत्य-निष्ठा, साहस, सकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करता है। जो तुम करते आ रहे हो, वह अच्छा है। आखिर जो कुछ किया गया है, वह ईश्वर के नाम पर और ईश्वर मे आस्था के साथ किया गया है। तुम श्रेष्ठता प्राप्त करोगे। तुम श्रेष्ठ वने रहो। आशीर्वाद।"

श्री वाल्डविन ने कहा था—"लोकतत्र मे सवको काम करना पडता है।" वापू ने जोर दिया कि हमारा भविष्य हमारी दृढता, सत्यनिष्ठा, साहस, सकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करेगा। दोनो ने एकही वात दो ढंग से कही। ये दोनो उपदेश हमारे पथ के दीपस्तम्भ वने।

: ४ :

गांधीजी के साथ पन्द्रह दिन

जगल की ओर मे एक बैलगाडी को तेजी मे दौडाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गाधीजी को देखकर सहसा उन्होने गाडी रोकी। बडी फुर्ती के साथ अटपटे-से एक के बाद एक ने उतरकर गाधीजी के चरणो मे अपना सिर टेका और चुपचाप जैसे आये, वैसे ही गाडी मे बैठकर आगे चल दिये। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दुखडा रोया, न आँसू बहाया। वे खूब जानते है कि गाधीजी का हरएक साँस तो गरीब के लिए ही निकलता है, इसलिए उन्हे कहे तो क्या, और पूछे तो क्या? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफी था। कोई पढा-लिखा होता तो बीसियो बाते पूछता, उलझा देता, आलोचना करता, किन्तु गरीब मे उतनी कृतघ्नता कहाँ है! वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुष्ट होता है। यह तो अनेक घटनाओ मे से छोटी-सी एक साधारण घटना है, किन्तु गरीबो के हृदयो मे गाधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे ही उदाहरण उपयुक्त है। बापू की मृत्यु के बाद किसीने कहा था—"आज से महात्मा नही, मिस्टर गाधी कहो। अब तो गाधी का कोई दाम भी नही पूछता।" किन्तु गरीब इस झमेले मे क्यो पडे? अहिंसा किसे कहते है और हिंसा किसे कहना चाहिए, यह तात्त्विक विवाद तो उन्ही

को शोभा दे सकता है, जिन्हे बहस मे अधिक रस है और काम मे कम। फुरसती आदमियो के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किन्तु ऊंट को पापड से क्या काम ? आये-साल अकाल और महामारी, न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढंकने को पूरा वस्त्र, जमीदार की ज्यादती, साहूकार की ज्यादती और ऊपर से उपदेशको की हिमाकत। उन्हे क्या पता कि गरीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म का। सुदामा की तरह गरीब को ज्ञान नही चाहिए, रोटी चाहिए। गाधी गरीबो को उपदेश देने नही जाता, गाधी उनके हृदय मे प्रवेश करके उनके दुख मे दुखी होता है--गरीब बनकर रहता है और गरीबो के लिए जीता है। यही कारण है कि गरीबो के हृदय पर गाधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के किसी छोटे-से-छोटे गॉव मे जाइये और पूछिये, गाधी कौन है ? तुरन्त उत्तर मिलेगा कि गरीबो का भला चाहनेवाला। गाधी क्या पढे है, क्या लिखे है, क्या कहते है, यह उनके लिए व्यर्थ की चिन्ता है। गाधी-बाबा अनाथो के, गरीबो के हित-चिन्तक है, इसीमे उनके लिए गाधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्र-रूप से हो, किन्तु ससार का अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक सक्षेप मे और क्या कह सकता है ! थोडे-से लोग चाहे गाधीजी को गो-हत्यारा कहकर सतोप कर ले, किन्तु 'गाधीजी की जय' आज भी आकाश को कंपा देती है।

आजकल गाधीजी वर्धा आये हुए है। वर्धा मे जमनालालजी की प्रेरणा से श्री विनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल

रक्खा है और गांधीजी वहीं ठहरे हुए हैं। गांधीजी क्या आये, मानो घर में कोई बड़े-बूढ़े दादा आ गए हों। आश्रमवासी तो गांधीजी को 'बापू' ही के नाम से पुकारते हैं, किन्तु बापू होने पर भी बच्चों के साथ गांधीजी बच्चों ही की तरह रहते हैं। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम के नियमों के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर-करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगड़ा हुआ, अन्त में जमनालालजी ने नाटक-प्रयोग किया—"बापू, आप यहाँ मेरी देख-रेख में हैं। जैसा मैं कहूं, वैसा कीजिये। इन प्रयोगों के कारण आप यहां से बीमार हो कर जायं, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहां से चला जाऊँगा।" गांधीजी ने खिल-खिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते! चुप रहे। गांधीजी का हठ कायम रहा।

खंडाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रक्खा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अछूतों के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वहाँ के भी अखबारों में दो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही तरफदारी है तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं

चाहता। जमनालालजी ने उन्हे समझाया कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले मे मुझसे मोह तोड ले। किंतु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दे! एक दिन कुछ वृद्ध सज्जनो को अगुआ करके दूसरे दल की मडली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह मे शरीक हो, अस्पृश्यो से छुआछूत न माने, उनके लिए मन्दिर खोले, इसमे तो हम शामिल है, किन्तु अस्पृश्यो के हाथ का खान-पान हमे नही रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमे इतना विश्वास नही दिला सकते कि भविष्य मे वह अछूतो के हाथ का पकाया नही खायेगे? जब हम लोग इतना आगे बढने को तैयार है, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोडा-सा पीछे क्यो न हटे?" यह सक्षेप मे उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे—"आश्रम मे तो सभी जाति के लोग रहते है। क्या मै आश्रम मे खाने से इन्कार करूँ?" "आश्रम की कौन कहता है! यह तो पुण्य-भूमि है! तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नही। अन्य स्थानो पर आप ऐसा न करे, यही हमारी माँग है।" इस तरह से बहस होती रही। अन्त मे तय हुआ कि गाधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगो का एक शिष्टमण्डल गाधीजी के पास पहुँचा। गाधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के अगुओ से बाते प्रारम्भ की। गाधीजी ने पूछा—"जमनालालजी अस्पृश्यो के हाथ का खाते है, इसमे आपको किसका डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा—"धर्म तो हम क्या समझे! समाज की रूढि है

रक्खा है और गाधीजी वही ठहरे हुए है। गाधीजी क्या आये, मानो घर मे कोई वडे-बूढे दादा आ गए हो। आश्रमवासी तो गाधीजी को 'वापू' ही के नाम से पुकारते है, किन्तु वापू होने पर भी वच्चो के साथ गाधीजी वच्चो ही की तरह रहते है। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम के नियमो के मुताविक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव मे आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते है। गाधीजी ने भी वकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खवर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गाधीजी इस तरह के प्रयोग कर-करके कही अपना स्वास्थ्य न खो वैठे, इस आशका से जमनालालजी ने गाधीजी को समझाना शुरू किया। वहस हुई, झगडा हुआ, अन्त मे जमनालालजी ने वल-प्रयोग किया—"वापू, आप यहॉ मेरी देख-रेख मे है। जैसा मै कहूँ, वैसा कीजिये। इन प्रयोगो के कारण आप यहॉ से वीमार हो कर जायँ, यह मै नही वर्दाश्त करने का। "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहॉ से चला जाऊँगा।" गाधीजी ने खिल-खिलाकर कहा। जमनालालजी अव क्या कहते! चुप रहे। गाधीजी का हठ कायम रहा।

अग्रवाल-पचायत ने जमनालालजी को जाति-वहिष्कृत कर रक्खा है। उनका सवसे वडा गुनाह यह वनाया गया कि उन्होने अस्पृश्यो के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा मे भी अग्रवालो मे दो दल है। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगो का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारो का ही अनुयायी है, तो भी जमनालालजी को छोडना नही

चाहता। जमनालालजी ने उन्हे समझाया कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले मे मुझसे मोह तोड ले। किंतु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दे! एक दिन कुछ वृद्ध सज्जनो को अगुआ करके दूसरे दल की मडली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह मे शरीक हो, अस्पृश्यो से छुआछूत न माने, उनके लिए मन्दिर खोले, इसमे तो हम शामिल है, किन्तु अस्पृश्यो के हाथ का खान-पान हमे नही रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमे इतना विश्वास नही दिला सकते कि भविष्य मे वह अछूतो के हाथ का पकाया नही खायेगे? जब हम लोग इतना आगे बढने को तैयार है, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोडा-सा पीछे क्यो न हटे?" यह सक्षेप मे उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे—"आश्रम मे तो सभी जाति के लोग रहते है। क्या मै आश्रम मे खाने से इन्कार करूँ?" "आश्रम की कौन कहता है! यह तो पुण्य-भूमि है! तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नही। अन्य स्थानो पर आप ऐसा न करे, यही हमारी मॉग है।" इस तरह मे वहस होती रही। अन्त मे तय हुआ कि गाधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगो का एक शिष्टमण्डल गाधीजी के पास पहुँचा। गाधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के अगुओ से बाते प्रारम्भ की। गाधीजी ने पूछा—"जमनालालजी अस्पृश्यो के हाथ का खाते है, इसमे आपको किसका डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा—"धर्म तो हम क्या समझे! समाज की रूढि है

कि ऐसा नही करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बाते मानते है, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यो नही मानते ?" गाधीजी ने कहा—"क्यो न माने, किन्तु यदि रूढि का जुल्म हो तो उस रुढि का नाश कर देना चाहिए। प्राचीन काल मे ऐसी रूढि का बन्धन था, यह तो मै नही जानता। मै तो यह जानता हूँ कि जो स्वच्छ है, शराबी नही है, व्यभिचारी नही है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने-योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहे कि तुम्हारे हाथ का हम नही खायेंगे तो क्या हमारे साथ वे रहेगे ? वे अवश्य हमारा त्याग कर देगे। मै तो केवल उनकी धमकी से भी नही डरता, किन्तु यदि हमारे दोष के कारण वे हमारा त्याग कर दे तो मै उसे कैसे बर्दाश्त कर सकता हूँ ? जो अपवित्र रहते है, मुर्दे का मास खाते है, शराबी है, उनके हाथ का खाने को तो मै नही कहता। उनसे तो मै कह सकता हूँ कि पहले तुम अपनी बुराइयाँ दूर करो तो मै तुम्हारे हाथ का खाऊँ। किन्तु जो स्वच्छ है उनके हाथ का तो न खाने से धर्म का नाश हो जायगा। आपमे यदि साहस न हो तो आप चाहे ऐसा न करे। जमनालालजी को आशीर्वाद तो दे, क्योकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते है। आप इनको क्यो पीछे हटाना चाहते है ? चाहो तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करा लो कि जो शौचादि को न माने, उस ब्राह्मण या अब्राह्मण किसीके भी हाथ का वे न खाये। किन्तु इससे थोडे ही आपका काम बनेगा ! आप तो पचो के त्रास से भयभीत है और इसलिए जमनालालजी मे आग्रह करते है। मै यह कहना चाहता हूँ कि समाज को तो

मै भी मान लेता हूं, हमे हर बात मे समाज से नही लडना चाहिए। किंतु आपका समाज कैसा समाज है? यदि गगोत्री मैली हो जाय तो क्या फिर गगा का पानी स्वच्छ रह सकता है? आज के पच पच कहॉ रह गए? पच तो गगोत्री है, और जैसे गगोत्री का पवित्र प्रवाह गगा मे बहता है, वैसे ही पच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते है। किन्तु वर्तमान के पच तो राक्षसी प्रथा के पुजारी है। आज के पंच पाखड से, स्वार्थ से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए है। मेरी तो यह भविष्यवाणी है। आप इसे मानिये कि आज के पचो का अन्याय हम नही मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा। पच न्याय कहॉ करते है? धर्म की बडी-बडी बाते बनाने से न्याय नही हो सकता। वर्तमान के पाखण्डी पचो से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पच-गगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर-मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसीका जमनालालजी सामना कर रहे है। उन्हे आप आशीर्वाद दे! आगे की पीढी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को बचा लिया। लाखो अछूतो को हिन्दू रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे, यह तो उसकी दस तरह की दुष्ट बुद्धि थी। उसी दुष्ट बुद्धि का सामना विभीषण ने किया।

"आप यदि सामना कर नही सकते, इतना साहस नही है, तो जमनालालजी आपको नही कहते कि आप भी उनके साथ चले। जमनालालजी तो कहते है कि आप उनके साथ न चल

सके तो उन्हे छोड दे, किन्तु आप उनका मोह क्यो करते है ? उन्हे भी अग्रवाल-समाज के सुधार का मोह छोड देना चाहिए। जो सन्यासी हो गया, उसे कौन वॉधता है ! वह तो अब व्यापक समाज की सेवा ही कर सकते है। उसीमे अग्रवाल-समाज की भी सेवा आ जाती है। आप जमनालालजी को छोड दे, किन्तु उनके लिए प्रेम कायम रक्खे और पचायत के जो लोग विरोधी है, उनके प्रति भी विरोध न करे। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति से ही जीत सकते है। पचायत के लोग क्रोध के पात्र नही है, दया के पात्र है। वे तो अवश्य ही समझते है कि हम समाज का भला कर रहे है। उन्हे क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते है ! इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने मे कृतकार्य हो।"

गाधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गए। सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नही बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगडी उतारकर गाधीजी के पैरो मे रख दी और कहने लगे—"महाराज, आपने जो कहा, उसे सुनकर तो मै गद्गद हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पडा, किन्तु पचो के त्रास से वह भी भयभीत था।

गाधीजी जब चर्खा चलाने बैठते है तो कातने की धुन मे इतने मस्त रहते है, मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो, और किसी भी गहन-से-गहन विषय पर उनसे बाते कीजिये, उनके कातने मे कोई विघ्न नही पडता। असल मे तो एक ओर

सूत का अपने आप उनके हाथ की पूनी मे से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अवाधित वचन-धारा का प्रवाह और साथ मे चर्खे का सगीत, यह हर भावुक का मन मोहने को पर्याप्त है। मै तो हर रोज उनके कातने के समय अपनी चक्की चलाने जा वैठता हूँ। एक दिन वही वछडे की कथा छिडी। मैने कहा, "महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी वछडा मारा था, किन्तु वह तो आलकारिक जमाना था, इसलिए वछडे का वत्सासुर हो गया। किन्तु इस वीसवी शताब्दी मे तो लोग सीधी-सादी भाषा मे ही वोलते है, इसलिए आपके इस काम ने काफी हलचल पैदा कर दी। आपने वहुत से साहस किये, किन्तु इसमे तो हद हो गई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने जीवन मे नही किया होगा।"

गाधीजी ने कहा "ऐसी तो क्या वात है, मैने तो सवकुछ सहज भाव से ही किया है।"

"तो आपने ऐसा कौन-सा काम किया है, जिसे साहस की दृष्टि से आप अपने जीवन मे ऊँचे-से-ऊँचा स्थान दे सके?" मैने पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैने कभी नही विचारा।" गाधीजी ने कहा, "किन्तु मै समझता हूँ कि वारडोली-सत्याग्रह स्थगित करके मैने वहुत वडे साहस का परिचय दिया। चौवीस घण्टे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने-आप को वेहद हास्यास्पद वनाना था, किन्तु मै तनिक भी नही झिझका। जो सत्य था, वही मेरा राजमार्ग था और इसीलिए मेरी अपनी हँसी होगी,

इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नही किया। मेरे जीवन के वडे साहसिक कामो मे यह एक था, ऐसा मै मान सकता हूँ।"

"सविनय आज्ञा-भग अचानक वन्द करना पडा, इससे आपको क्लेश नही हुआ ?"

"किंचित् भी नही।" गाधीजी ने दृढता से कहा।

जिस सीता के लिए लाखो वन्दर और राक्षसो के प्राण गये, उसे छोड देने मे राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा-भग के लिए हजारो लोगो को जेल-यातनाएँ मिली, उसे ढाह देने मे गाधीजी को कोई सकोच नही हुआ। त्रेता मे लोगो ने राम को वुरा-भला कहा होगा, कलि मे गाधीजी को लोगो ने खरी-खोटी सुनायी, किन्तु कौन कह सकता है कि गाधीजी ने जो किया वह ठीक न था ? असल मे तो वडे लोगो को समझने के लिए कुछ प्रयास की जरूरत पडती ही है। गाधीजी लगोटी मारकर रहते है, सस्ते-से-सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते है, तो भी उन सवके नीचे छिपी हुई चमक 'कभी-कभी' लाखो मे चकाचौध मचा ही देती है। गाधीजी लँगोटी मारकर गरीवो की तरह रहते है, इससे उनकी वुद्धि गरीव नही हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वाज-वाज मौको पर गाधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेप प्रयास की जरूरत पडती है। हम रोजमर्रा देखते है कि अखवारवाले गाधीजी से वार्तालाप करके कुछ छाप देते है और पीछे गाधीजी को उसका खडन करना पडता है। कारण यह है कि गाधीजी को लोग ठीक-ठीक नही समझ सकते। गाधीजी 'अहिसा-अहिसा'

पुकारते न कभी थके, न अब थकते है। अहिसा के तो मानो वह अवतार बन गए है। फिर भी बछडे की प्रख्यात हिसा करते न केवल उन्हे हिचकिचाहट नही हुई, उलटा उन्होने उसे धर्म माना। साधारण लोग सुनते ही हक्के-बक्के रह गए। किसीने आँसू बहाये, किसीने गालियाँ दी, किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था ! उन्हे तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते है तो उसमे ईश्वरीय सगीत सुनते है। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते है तो उसमे ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते है। दु ख मे, सुख मे, हँसने मे, रोने मे, जागने मे, सोने मे, फिरने मे अविच्छिन्न रूप से जो मनुष्य ईश्वर का अनुभव करता है, उसे जगत् की क्या परवा !

> 'सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई,
> अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।'

यह गाधीजी का हाल है। जगत् से न उनको शर्म है, न जगत् का भय है।

एक दिन मैंने पूछा, "महात्माजी, आपकी उत्तरोत्तर आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता है ?" शील-सकोच से गाधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा खयाल है।" मैंने कहा, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मै नही जानता, किन्तु मुझे तो ऐसा जान पडता है कि असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा मे बहुत चमक आ गई है।" महात्माजी मौन रहे। शायद सोचा होगा, मेरा ऐसा कहना भी तो अनधिकार था। किसीकी आत्मा चढ

रही है या गिर रही है, उसे पहचानने की भी तो लियाकत अधिकारी मे ही हो सकती है। एक बार लार्ड रीडिग से गाधीजी की चर्चा चली थी, उसका मुझे स्मरण हो आया। गाधीजी उन दिनो जेल मे थे। देश के नेताओ का जिक्र छिडने पर मैंने कहा, "मेरी राय मे गाधीजी ससार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति है।" वायसराय ने कहा, "हॉ, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके सगी-साथी सब-के-सब ईमानदार होते।" मै वायसराय का मतलब समझ गया। यह कोई नही कह सकता कि असहयोग के दिनो मे गाधीजी की सारी-की-सारी मण्डली भली थी। किन्तु गाधीजी को इससे क्या ! मैंने उन दिनो एक बार कहा था, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द के लोगो मे कितने बुरे आदमी भी आ गए है।" गाधीजी ने कहा, "मुझे क्या डर है ? मुझे कोई धोखा नही दे सकता। जो मुझे धोखा देने मे अपनेको दक्ष समझते है, वे स्वय अपने-आप को धोखा देते है। मै तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ, किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा ? जो बुरे है, वे स्वय मुझे त्याग देगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्माजी की मण्डली मे इने-गिने लोग बचे है। शुरु से आजतक के उनके जीवन पर दृष्टिपात करे तो सारा चित्र ऑखो के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोडा, रौलट-ऐक्ट के जन्म के समय , प्रजा ने छोडा, बारडोली के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्यसमाजी, सनातनी, जात-पॉत, मित्र-स्नेही, सबने—किसीने कभी, किसी ने कभी—महात्माजी को समय-समय पर छोड दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग मे पहुँचे तो केवल एक कुत्ता साथ मे निभा। महात्माजी

के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ मे है। पर एक बात है, सबने एक-एक करके समय-समय पर गाधीजी को छोड दिया। पर फिर-फिरकर वही लोग गाधीजी से चिपटे ही रहते है। मैने एक दिन कहा, "महात्मा-जी, आप इतनी तेजी से दौड लगा रहे है, मै नही समझता, अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते है।" गाधीजी ने कहा, "यह तो मैने बीस साल पहले ही सोच लिया था और मुझे तो इसीमे सुख है।" मैने कहा, "यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते, तो इतनी तेजी की चाल लोग बर्दाश्त न करते। या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढना होता, अथवा सुकरात की तरह जहर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियो का देश है और बीसवी शताब्दी है, इसलिए लोगो ने आपकी महात्मापन की उपाधि छीनकर ही सन्तोष कर लिया है।"

गाधीजी ने हँसकर धीरे से कहा, "तो चढा दे लोग मुझे भी सूली पर। मै भी तैयार हूँ और प्रसन्नता के साथ तैयार हूँ।" पास बैठे लोगो ने लम्बी साँस ली। मेरे तो मन मे आया कि इस मिश्रित धर्म से तो कही अन्धकार ही अच्छा है, जो अवतार को निकट ला देता है। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है, किन्तु कोई क्या करे।

... . .

गाधीजी के यहाँ त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने रुपयो मे निर्वाह हो सकता है, इसीका प्रयोग

होता रहता है। गाधीजी भी अलसी के तेल का प्रयोग इसलिए करते है कि जिसमे जीवन-निर्वाह का खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा वन गया है कि उनकी मण्डली मे जीवन-निर्वाह की आवश्यक-से-आव-श्यक सामग्रियो का उपयोग करना भी गुनाह-सा हो गया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी सेठाई से शून्य है। वेमसाले की स्वादहीन एक तरकारी, मोटे टिक्कड, दूध-दही तो औषध के रूप मे—यह रोजमर्रा की रसद है। किसी मोटे मरीज के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका राम-वाण औषध है। किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय-जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहाँ वजन वढाने की कोई गुजाइश नही। किसी आश्रमवासी वालक या वालिका के चेहरे पर मैने शारीरिक ओज के चिह्न नही पाये। सन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ, अर्थात् अल्प मात्रा से जीवन-निर्वाह कर अधिक-से-अधिक ससार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रमवासियो की भी यह स्वय-निर्मित कैद है। किन्तु भारत के जनसाधारण को आश्रमवासियो से अधिक कहाँ मिलता है? भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले ने दो रुपये माहवार निश्चित किया था। किसी-किसीने इससे ज्यादा का अन्दाजा किया। किन्तु भारतवर्ष को सब्ज वाग दिखानेवाले अग्रेज भी ४॥) माहवार से अधिक की आय नही सावित कर सके। भारतवासी की आय ४॥) और अग्रेज की ५०) प्रतिमास!

आश्रमवासी वेचारे कम-से-कम खर्च करके भी १५)

माहवार से कम मे गुजर नही कर सकते और भारत के दरिद्र-नारायण ४।।) माहवार मे किसी तरह कीडे-मकोडे का जीवन व्यतीत करते है। आश्रमवासियो ने तो अपने-आप अपने ऊपर कैद लगाई है, सुख को तिलाजलि दी है, देश के लिए फकीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देखकर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जनसमुदाय ने कब सन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी गरीबी को हम सन्तोष समझ बैठे है ? उनका सन्तोष क्या है, बुढिया का ब्रह्मचर्य है। उन्हे सन्तोष सिखाना उनकी गरीबी की निर्दय हँसी उडाना है। मैने गाधीजी से कहा, "महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेलेचॉटियो को ही शोभा दे सकता है, किन्तु देश के असख्य दरिद्रो को त्याग की कौन-कौन-सी गुजाइश है ? वे तो पहले से ही आधा पेट भोजन करते है और फिर वे लोग समझ बैठे कि ४।।) माहवार या इससे भी कम मे निर्वाह करना ही हमारा कर्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फिजूल है। स्वराज्य की भावना दो ही कारणो से देश मे पैदा हो सकती है—या तो धार्मिक असन्तोष के कारण, या आर्थिक वेदना के कारण। यूरोपीय देशो मे पेट की चिन्ता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत रक्खा। यहाँ धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर मुधर्मियो के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अग्रेजो ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानो की मस्जिदे तोडी। इसलिए स्वराज्य की भावना तो तभी पैदा हो सकती है, जब हम यह महसूस करे कि हमारी आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नही सुधर सकती। किन्तु यदि

इस दारिद्र्य को ही आदर्श माने तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यो लडे ! इसलिए मेरी बुद्धि मे तो वहाँ यह अपने-आप धारण की हुई गरीबी आश्रमवासियो एव अन्य कार्यकर्ताओ के लिए भूषण है, जनता की बेबस गरीबी, गरीबो का और देश का दूषण है। उन्हे तो हम यह कहे कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है, उसको मर्यादा के भीतर बढाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म है।"

महात्माजी ने कहा, "मै गरीबो को जीवन की आवश्यक सामग्री घटाने को कहाँ कहता हूँ ? आज गरीब जितने मे निर्वाह करता है, वह तो हमारे लिए शर्माने की बात है। वर्तमान गरीबो का जीवन तो पशुओ का जीवन है। उनके सामने त्याग की बाते करना तो निर्दयता है। जिनके पास काफी सामग्री है, या जो सेवा करना चाहते है, मै तो उन्हे ही गरीब बनने का उपदेश करता हूँ।"

मैने कहा, "आपके साहित्य के पढने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तेल पर निर्वाह करे और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे, तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते है कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जीये !"

गाधीजी ने कहा, "लेकिन मेरा यह साहित्य गरीबो के लिए थोडे ही है। जब गरीब लोग पढे-लिखे होने लगेगे और मेरा साहित्य पढने लगेगे, तो शायद मुझे कुछ थोडा-सा फेर-फार करना पडे। किन्तु आज तो मै त्याग का गुणगान धनी या मध्यम वर्ग के लोगो के लिए ही करता हूँ। गरीबो को

त्याग क्या सुझाऊँ, वे तो परवशात् त्यागी बन बैठे है। उन्हे तो इससे अधिक की आवश्यकता है।"

मैने पूछा, "आपकी राय मे हर मनुष्य को खाने, पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय मे निर्वाह करना चाहिए ?"

गाधीजी ने कहा, "जितने मे सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपडे, जूते ?"

गाधीजी ने कहा, "जूते की आवश्यकता मै इस देश मे नही समझता, शायद खडाऊँ की आवश्यकता हो। घी तो ज्यादा नही चाहिए।"

मैने पूछा, "दन्तमजन, साबुन, ब्रश इत्यादि ?"

गाधीजी ने कहा, "अरे, इसकी कही आवश्यकता हो सकती है ?"

मैने पूछा, "घोडा ?"

सब लोग हँसने लगे।

मैने फिर पूछा, "खैर, आपकी राय मे गरीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए ?" सौ रुपये माहवार से कम मे कैसे कोई सुखपूर्वक गुज़र कर सकता है, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसलिए मैने सौ रुपये का तखमीना रक्खा। हरिभाऊजी ने कहा, "मैने साधारण आदमी का बजट गढकर देखा था, पचास रुपये प्रतिमास काफी है।" महात्माजी को तो पचास रुपये भी

ज्यादा जँचे। "पच्चीस रुपये माहवार तो काफी है।"—यह उन्होंने अनुमान लगाया। मैंने कहा, "यह तो असम्भव है।"

गाधीजी ने कहा, "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तखमीना कर लो। यदि पच्चीस रुपये मे ज्यादा आता है तो भी मुझे क्या उज्र है! किन्तु मै जानता हूँ कि पच्चीस रुपये माहवार हर मनुष्य को खाने को मिले तो यहाँ रामराज्य आ जाय।"

"और यदि किसी-किसीको पचास रुपये से ज्यादा मिल जाय तो?" मैंने पूछा।

"ज्यादा मिल जाय तो उसका उपभोग करे।" गाधीजी ने उत्तर दिया। "किन्तु वह तो फिजूलखर्ची है। ऐसे मनुष्यो को तो मै त्याग का ही उपदेश करूँगा।"

मैंने पूछा, "महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय दो सौ रुपये औसत या इससे भी अधिक प्रतिमास हो जाय, तो आपको क्या उज्र हो सकता है?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा, "उज्र नही हो सकता है! उज्र तो हो ही सकता है। ससार मे प्रकृति जितना पैदा करती है वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाय, किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज पैदा नही करती। इसके मानी तो यह है कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पडता है और इसलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मै लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से पचास रुपये

से अधिक जो अपने लिए खर्च करते है, वे लुटेरे है। इगलैण्ड एक छोटा-सा देश है। वहाँ के साढे तीन करोड आदमियो के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाडा जा रहा है। किन्तु भारत के बत्तीस करोड मनुष्य यदि दो सौ माहवार या अधिक खाजाने का प्रयत्न करे तो ससार तबाह हो जाय। भगवान् वह दिन न लाये कि भारत के लोग अग्रेजो की तरह उपभोग करना सीखे। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर ही रक्षा करेगा। साढे तीन करोड की भोग-पिपासा मिटाने मे तो यह देश मरा जा रहा है, बत्तीस करोड आदमियो के भोग की भूख मिटाने मे तो ससार को मरना होगा।"

मैने कहा, "महात्माजी, यदि पाँच सौ या सौ रुपये से अधिक खानेवालो को लुटेरे समझे तब तो मारवाडी, गुजराती, पारसी, चेट्टी इत्यादि सब लुटेरे है।"

महात्माजी ने गम्भीरता से कहा, "इसमे क्या शक है! वैश्यो के हितार्थ प्रायश्चित्त करने के लिए ही तो मैने वैश्यपन छोडा है।"

•

: ५ :

उत्कल में पाँच दिन

जब गाधीजी ने उत्कल मे पैदल पर्यटन शुरू किया तो सुना कि वे सवेरे-साँझ छाँह मे चलते है, आम्र-कुजो मे टिकते है, तारो-जडे आसमान के नीचे सोते है। खाने को खेतो से ताजा तरकारी मिलती है, आम तो ऊपर ही लटकते रहते है, तोड लिये और खा लिये। दूध सामने दुहा और पी लिया। गाधीजी के साथ कुछ दिन रहने का आनन्द और उसीके साथ ऊपर-नीचे, दाये-बाये, प्रकृति के सुहावने दृश्यो का यह मनमोहक विवरण किसके लिए लुभावना न होगा! आखिर मै भी पहुँच गया। पहुँचते ही देखता हूँ कि गाधीजी पाँच फुट लम्बी-चौडी एक तग कोठरी मे बैठे लिख रहे है। एक लडका पखा झल रहा है। बाहर छाया मे लोग दरियो पर इधर-उधर पडे है, कोई खा रहा है, कोई सो रहा है।

गाधीजी ने कहा, "अच्छे समय पर पहुँचे। कल रात तो वर्षा के मारे परेशानी रही। रात-भर कोई सोया नही। एक तग कोठरी मे पच्चीस जनो ने बैठकर रात बिताई।" सुनते ही मेरा माथा ठनका। गाधीजी ने मेरी ओर इशारा करके एक भाई से कहा, "अच्छा, इनके खाने का क्या प्रबन्ध है?"

मैने कहा, "जी, दूध लिया करता हूँ।"

किसीने आहिस्ते से कहा, "दूध तो नही है।"

अपनी परेशानी छिपाने के लिए मैंने कहा, "कोई चिन्ता नही, आमो से काम चल जायगा।"

श्री मलकानीजी मेरे अज्ञान पर मुस्कराते हुए कहने लगे, "यहाँ आम कहाँ?"

मैंने साहस करते हुए कहा, "देख लेगे!"

"खा लेगे, ऐसा तो नही।" गाधीजी ने कहा, "अच्छा, नहा तो लो!"

कुएँ पर गया। अन्दर झाँका तो पानी मे कीचड भरा था। ऐसा पानी पीने की तो कौन कहे, पाँव धोने मे भी सूग आती थी। किसी तरह साफ-सूफ करके पोखर की पाज पर दरी डालकर सो रहा। सोचा, खाने-पीने को नही मिलता तो न सही, सो तो ले। दो घण्टे बाद एक स्वयसेवक दो गाँवो मे 'हाँड' कर पाँच बकरियाँ दुहाकर आध सेर दूध लाया। उसे हसरतभरी निगाह से देखकर मै पी गया। पीने के बाद ही ध्यान आया कि न मालूम ये पाँच बकरियाँ कितने बच्चो का मन भरती। पेट तो आध सेर दूध से कितनोका क्या भरता! फिर लम्बी साँस लेकर लेट रहा। स्व० बकिमबाबू ने भारतवर्ष की वन्दना मे इसे 'सुजला सुफला शस्यश्यामला' कहा है। उत्कल मे भी जल की कमी नही। सुफला भी है। भूमि उपजाऊ भी है, पर न 'सुखदा' है, न 'वरदा।' यहाँ बाढ खूब आती है। शान्तनु जैसे पुत्र पैदा करता था और गगा उन्हे बहा ले जाती थी, वैसे ही उडिया बोता है और बाढ सबकुछ बहाकर ले जाती है। जहाँ हम लोग बैठे थे, वहाँ बाढ आने

पर पुरसो पानी चढ जायगा। खेती नष्ट हो जायगी। पशु मर जायँगे। मकान गिर जायँगे। घर से निकलना मुश्किल हो जायगा। बीमारी फैल जायगी। लोग बेमौत मरेगे। बाढ के चले जाने पर लोग थके-माँदे फिर खेती करेगे। फिर झोप-डियो की मरम्मत करेगे और फिर बाढ से लडने की तैयारी मे लगेगे।

शायद बाढ की मार से उडिया इतना शिथिल हो गया है कि अब उसमें उत्साह नही। शायद दु ख को भूलने के लिए ही उसने अफीम की लाग भी लगा ली है। उसकी आँखो मे न तेज है, न हृदय मे उत्साह। बाढ-निवारण के लिए सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसने कुछ अच्छी-अच्छी सिफारिशे भी की, पचासो लाख का खर्च बताते है। यदि इन सिफारिशो पर चला जाय तो उडिये के जीवन मे एक नयी स्फूर्ति आ जाय, एक नई आशा पैदा हो जाय। पर फुर्सत किसे है ? बाढ-निवारण कमेटी की जाँच-रिपोर्ट आज सरकारी अलमारियो की शोभा बढा रही है। सुना, सिफारिशो को अमल मे लाने मे कुछ जमीदारो की भी क्षति है, इसलिए भी आगे बढने मे रुकावट है। मध्यप्रान्त से पानी चलता है, जो उत्कल मे आकर बाढ उत्पन्न करता है। रेल न थी, तब पानी सीधा समुद्र मे जा गिरता था। अब रेल और नहरो के बनने के बाद उसकी पाज के कारण पानी को रुकावट मिल गई है, ऐसा इस विषय के विशेषज्ञ लोग कहते है। दु खी, दरिद्र, दीन उत्कल की यह करुण कहानी किसका दिल नही दहला देगी! यमलोक में पहुँचने के लिए वैतरणी नदी पार करनी पडती है, उत्कल मे

भी वैतरणी नदी है, मानो यह नाम उत्कल और यमलोक का सादृश्य दिखाने के लिए ही किसीने रक्खा हो। फर्क इतना ही है कि यमलोक मे भूख नही लगती, उत्कल मे लगती है।

ऐसे प्रदेश मे गाधीजी क्या आये, मानो भगवान् ही आ गए। उत्कल मे गोपबाबू का, मेहताबबाबू का, जीवरामभाई का अलग-अलग आश्रम है। गाधी-सेवाश्रम नाम का एक और आश्रम है। ये सभी आश्रम उडीसा की सेवा मे रत है। जैसे हाथी की खोज मे सभी खोज समा जाती है, वैसे ही बाढो मे जितनी सस्थाएँ सेवा के लिए उत्कल मे पहुँचती है उनके बारे मे उडिया यही समझता है कि ये गाधीजी के ही आदमी है। अब तो गाधीजी स्वय आ गए, इसलिए उडिये के हर्ष का क्या ठिकाना! उडिया समझता है, अब दु ख दूर होगा। इसलिए गाधीजी के सामने कीर्तन करता है, नाचता है, स्त्रियाँ उलूकध्वनि करती है। दो-दो हजार आदमी साथ मे चलते है, प्रार्थना मे हजारो मनुष्य आते है और बडे जतन से ताँबे के टुकडे, पैसे-अधेले-पाई लाते है, जो गाधीजी के चरणो मे रख जाते है। '**भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी।**' पर उडिया भूखा है तो भी गाधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आनेवाले नरककाल का धोती की सात गाँठो मे से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गाधीजी के चरणो मे रख देने का दृश्य सचमुच रुलानेवाला होता है।

वर्षा आरम्भ होते ही पैदल यात्रा मे रुकावटे आने लगी। गाँवो मे झोपडियो की तो वैसे ही कमी रहती है और गाधीजी का दल ठहरा सौ-डेढ सौ आदमियो का। जबतक वर्षा न थी,

तबतक तो आकाश के नीचे सो लेते थे। अब झोपडियो की जरूरत पडने लगी और रात को कष्ट होने लगा। कीडे-मकोडे, कानखजूरे बुरी तरह लोगो के बिस्तरो पर चक्कर काटने लगे। एक दिन डेरे के पास ही बडे-बडे चार सॉप भी देखने मे आये। रात को ओस के मारे सबके कपडे भीग जाते थे। लोगो के बीमार होने की आशका होने लगी, किन्तु गाधीजी के वातावरण मे किसीको फिक्र न थी। मुझे लगा, मै गाधीजी से कहूँ कि यदि वर्षा मे यह दौरा जारी रहा तो, मण्डली मे बीमारी फैल जाने की आशका है।

भद्रक से जब हम लोग बारह मील की दूरी पर एक गाँव मे पडाव डाले पडे थे, मैने इसकी चर्चा छेडी। गाधीजी को बात जँची। कहने लगे, "अच्छा, तो कल एक ही मजिल मे हम भद्रक पहुँच जायँगे।"

मेरे लिए तो एक मजिल मे बारह मील तय करना कठिन काम था। इसीलिए मैने मोटर से जाना निश्चित किया। गाधीजी अपने दल के साथ मुझसे अढाई घण्टा पूर्व चले और यद्यपि मै मोटर से चला तो भी गाधीजी मुझसे आध घण्टे पहले ही भद्रक-आश्रम मे पहुँच गए। रास्ते मे लोगो से पूछने पर पता चला कि गाधीजी बडी तेजी से चलते जा रहे थे और उनको पकडने के लिए उनके साथवालो को उनके पीछे-पीछे दौडना पड रहा था। पैसठ वर्ष की अवस्था मे गाधीजी की यह शारीरिक शक्ति अवश्य चित्त प्रसन्न करती है। इसका रहस्य उनका सयमी जीवन है। दिन-भर मे करीब एक सेर दूध और दो छटॉक शहद, उबली हुई तरकारी और कुछ आम—यह

उनका सारा भोजन है। रात को आमतौर से वह दो-तीन बजे नीद से उठ जाते है और जब ससार सोता है तब वह जागते हुए काम करते रहते है। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र मे अवश्य ही अद्भुत चीज है। जब इतनी फुरती के साथ गाधीजी को बारह मील की मजिल तय करते देखा, तो मैने मन-ही-मन मिन्नत की कि भगवान् हमारे भले के लिए उन्हे लम्बी उम्र दे। जो लोग गाधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे कुछ जानना चाहते हो, वे जान ले कि इन वर्षो मे गांधीजी को मैने इतना स्वस्थ नही देखा। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है।

उत्कल के सेवको के विषय मे कुछ लिखना आवश्यक है। इनमे गोपबन्धु चौधरी और श्री जीवारामभाई, दो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। दोनो मानो सेवा के साक्षात् अवतार है। गोपबन्धु तो असल वैष्णव है। "पर दुखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे।" वह अपने जमाने मे डिपुटी-कलेक्टरी कर चुके, किन्तु सेवा के लिए सबकुछ छोड दिया। अभिमान तो मानो इनको छू नही गया। जीवारामभाई का यह हाल है कि लाखो रुपये छोडकर सेवक बने। हम लोग जब सो जाते थे, तब यह रात को अकेले डेढ सौ आदमियो का पाखाना साफ करते थे।

इस यात्रा मे हास्य-रस की भी कमी नही थी। मि० ब्यूटो (Buto) एक जर्मन युवक है, जो यात्रा मे गाधीजी के साथ घूमते थे। गॉव मे खाने की योही कमी थी। श्री ब्यूटो हट्टे-कट्टे जवान और बचपन से मास पर पले हुए।

इसीलिए अधभूखे रहते थे, पर अत्यन्त प्रसन्न। एक तहमद पहनकर फिरते थे। जवान तो है ही, मूंछे अभी आई नही। गॉववाले पड़ाव के चारो तरफ सैकडो की सख्या मे सुबह से शाम तक झाँकते रहते थे कि उन्हे गाधीजी का दर्शन हो जाय। इस बीच तरह-तरह की चर्चा करते थे। एक ने ब्यूटो की तरफ अगुली उठाकर कहा कि मीराबहन यही है। सबको हँसी आ गई। कोई कहता, जवाहरलाल भी साथ आया है। गाधीजी कौन से है, यह भी दर्शको के लिए पहेली थी। एक ने मीरा बहन को देखकर कहा—यही गाधीजी है। दूसरे ने किसी अन्य की ओर इशारा करके कहा—नही, गाधीजी यह है। तीसरे ने कहा—नही, गाधीजी तो महात्मा है। वह सबको दिखाई नही देते।

गाधीजी के दल के लिए ऐसी-ऐसी बाते रसायन का-सा काम देती रहती थीं। किसीने बताया कि मीराबहन एक मर्तबा जनाने डिब्बे मे यात्रा कर रही थीं। इतने मे टिकट-कलक्टर टिकट देखने आया। मीराबहन का सिर तो मुडा हुआ है ही। टिकट-कलक्टर आया, उस समय ओढनी सिर पर से उतर गई थी। टिकट-कलक्टर ने समझा कि यह पुरुष है और कहने लगा—"आपको पता है यह जनाना डिब्बा है?" मीराबहन ने तुरन्त ओढनी सिर पर खीची। टिकट-कलक्टर बेचारा झेपकर चलता बना। हम लोगो ने यह कहानी सुनी तो हँसते-हँसते आँखो मे आँसू आ गए।

उत्कल की यह यात्रा हँसी और रुलाई का एक अद्भुत सम्मिश्रण थी।

२२ जून, १९३८

: ६ :

गांधीजी : मानव के रूप में

गाधीजी का और मेरा प्रथम सम्पर्क १९१५ के जाडो मे हुआ। वे दक्षिण अफ्रीका से नये-नये ही आये थे और हम लोगो ने उनका एक वृहत् स्वागत करने का आयोजन किया था। मै उस समय केवल वाईस साल का था। गाधीजी की उस समय की शक्ल यह थी सिर पर काठियावाडी साफा, एक लम्वा अँगरखा, गुजराती ढग की धोती और पॉव विलकुल नगे। वह तस्वीर आज भी मेरी ऑखो के सामने ज्यो-की-त्यो नाचती है। हमने कई जगह उनका स्वागत किया। उनके वोलने का ढग, भापा और भाव विल्कुल ही अनोखे मालूम दिये। न वोलने मे जोश, न कोई अतिशयोक्ति, न कोई नमक-मिर्च, सीधी-सादी भापा !

१९१५ मे जो सम्पर्क वना, वह अन्त तक चलता ही रहा और इस तरह वत्तीस साल का गाधीजी के साथ का यह अमूल्य सम्पर्क मुझपर एक पवित्र छाप छोड गया है, जो मुझे सदा स्मरण रहेगा। उनका सत्य, उनका सीधापन, उनकी अहिसा, उनका शिष्टाचार, उनकी आत्मीयता, उनकी व्यवहार-कुशलता, इन सव चीजो का मुझपर दिन-प्रतिदिन असर पडता गया और धीरे-धीरे मै उनका भक्त वन गया। जव समालोचक था तव भी मेरी उनमे श्रद्धा थी, जव भक्त वना तो श्रद्धा और भी

बढ गई। ईश्वर की दया है कि बत्तीस साल का मेरा और एक महान् आत्मा का सम्पर्क अन्त तक निभ गया। मेरा यह सद्-भाग्य है।

गाधीजी को मैंने सन्त के रूप मे देखा, राजनैतिक नेता के रूप मे देखा और मनुष्य के रूप मे भी देखा। मेरा यह भी खयाल है कि अधिक लोग उन्हे सन्त या नेता के रूप मे ही पहचानते है। लेकिन जिस रूप ने मुझे मोहित किया वह तो उनका एक मनुष्य का रूप था—न नेता का, न सन्त का। उनकी मृत्यु पर अनेक लोगो ने उनकी दु ख-गाथाएँ गाई है और उनके अद्भुत गुणो का वर्णन किया है। मैं उनके क्या गुण गाऊँ? पर वे किस तरह के मनुष्य थे, यह मैं बता सकता हूँ।

मनुष्य क्या थे, वे कमाल के आदमी थे। राजनैतिक नेता की हैसियत से वे अत्यन्त व्यवहार-कुशल तो थे ही। किसी से मैत्री बना लेना, यह उनके लिए चन्द मिनटो का काम था। द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेस मे जब वे इगलैंड गये थे तब उनके कट्टर दुश्मन सैम्युअल होर से मैत्री हुई तो इतनी कि अन्त तक दोनो मित्र रहे। लिनलिथगो से उनकी न निभी, पर इसमे दोष सारा लिनलिथगो का ही था, गाधीजी ने मैत्री रखने मे कोई कसर न रखी। जिनसे गाधीजी मैत्री रखते, छोटी चीजो मे वे उनके गुलाम बन जाते थे। पर जहाँ सिद्धान्त की बात आती थी, वहाँ डटकर लडाई होती थी। लेकिन उसमे भी वे कटुता नही लाते थे। लन्दन मे जितने रोज रहे, बिना सैम्युअल होर की आज्ञा के कोई वक्तव्य या व्याख्यान देना उन्होने स्वीकार नही

किया। लिनलिथगो से भी कई बातो मे ऐसा ही सबध था।

निर्णय करने मे वे न केवल दक्ष थे, वरन् साहसी भी थे। चौरीचौरा के काड को लेकर सत्याग्रह का स्थगित करना और हिमालय-जितनी अपनी बडी भूल मान लेना, इसमे काफी साहस की जरूरत थी। सत्याग्रह स्थगित करने पर वे लोगो के रोष के शिकार बने, गालियाँ खाई, मित्रो को काफी निराश किया, पर अपना दृढ निश्चय उन्होने नही छोडा। १९३७ मे काग्रेस ने जब गवर्नमेट बनाना स्वीकार किया तब गाधीजी के निर्णय से ही प्रभावित होकर काग्रेस ने ऐसा किया। गाधीजी ने जहाँ कदम बढाया, सब पीछे चल पडे। काग्रेस-नायक मे उस समय झिझक थी, वे शकाशील थे। १९४२ मे, जब क्रिप्स आये, तब हाल इसके विपरीत था। काग्रेस के कुछ नेता चाहते थे कि क्रिप्स की सलाह मान ली जाय और क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार किया जाय, पर गाधीजी टस-से-मस न हुए, बल्कि उन्होने 'हिन्दुस्तान छोडो' की धुन छेडी और लड पडे। इस समय भी उन्होने निर्णय करने मे काफी साहस का परिचय दिया।

मुझे याद आता है कि राजनीति मे उस समय करीब-करीब सन्नाटा था। लोगो मे एक तरह की थकान थी। नेताओं मे प्राय एकमत था कि जनता लडने के लिए उत्सुक नही।

बिहार से एक नेता आये। गाधीजी ने उनसे पूछा, "जनता मे क्या हाल है? क्या जनता लडने को तैयार है?" बिहारी नेता ने कहा, "जनता मे कोई तैयारी नही है, कोई उत्साह

नही है।" पीछे रुककर उन्होने कहा कि मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक मर्तबा नारद विष्णु के पास गये। विष्णु ने नारद से पूछा, "नारद, ज्योतिष के अनुसार वर्षा का कोई ढग दीखता है?" नारद ने पचाग देखकर कहा कि वर्षा होने की कोई सभावना नही है। नारद ने इतना कहा तो सही, पर विष्णु के घर से बाहर निकले तो वर्षा से सुरक्षित होने के लिए अपनी कमली ओढ ली। विष्णु ने पूछा, "नारद, कम्बल क्यो ओढते हो?" नारद ने कहा, "मैने ज्योतिष की बात बताई है, पर आपकी इच्छा क्या है, यह तो मै नही जानता। अन्त मे जो आप चाहेगे, वही होनेवाला है।" इतना कहकर उन बिहारी नेता ने कहा, "बापू, जनता मे तो कोई जान नही है, पर आप चाहेगे तो जान भी आ ही जायगी।" यह बिहारी नेता थे सत्यनारायणबाबू। जो उन्होने सोचा था, वही हुआ। जनता मे लडने की कोई उत्सुकता न थी, पर बिगुल बजते ही लडाई ठनी तो ऐसी कि अत्यन्त भयकर।

पर यह तो मैने उनकी नेतागिरी और राजकौशल की बात बताई। इतने महान् होते हुए भी किस तरह छोटो की भी उन्हे चिन्ता थी, यह आत्मीयता उनकी देखने लायक थी। यही चीज उनके पास एक ऐसे रूप मे थी कि जिसके कारण लोग उनके बेदाम गुलाम बन जाते थे। उनके पास रहनेवाले को यह डर रहता था कि बापू किसी भी कारण अप्रसन्न न हो, और यह भय इसलिए नही था कि वे महान् व्यक्ति थे, वरन् इसलिए कि मनुष्य मे जो सहृदयता और आत्मीयता होनी चाहिए, वह उनमे कूट-कूटकर भरी थी।

वहुत वर्षो की वात है। करीव वाईस साल हो गए। जाडे का मौसम था। कडाके का जाडा पड रहा था। गाधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाडी सुवह चार वजे स्टेशन पर पहुँची। मै उन्हे लेने गया। पता चला कि एक घटे वाद ही जानेवाली गाडी से वे अहमदावाद जा रहे है। उनके गाडी से उतरते ही मैने पूछा, "एक दिन ठहर कर नही जा सकते?" उन्होने कहा, "क्यो? मुझे जाना आवश्यक है।" मै निराश हो गया। उन्होने फिर पूछा, "क्यो?" मैने कहा, "घर मे कोई बीमार है। मृत्यु-शय्या पर है। आपके दर्शन करना चाहती है।" गाधीजी ने कहा, "मै अभी चलूंगा।" मैने कहा, "मै इस जाडे मे ले-जाकर आपको कष्ट नही दे सकता।" उन दिनो मोटरे भी खुली होती थी। जाडा और ऊपर से जोर की हवा, पर उनके आग्रह के वाद मै लाचार हो गया। मै उन्हे ले गया, दिल्ली से कोई पन्द्रह मील की दूरी पर। वहाँ उन्होने रोगी से वात कर उसे सान्त्वना दे दिल्ली-केंटूनमेट पर अपनी गाडी पकड ली। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना वडा व्यक्ति मेरी जरा-सी प्रार्थना पर सुवह के कडाके के जाडे मे इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है! पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगो को पानी-पानी कर देती थी। मृत्यु-शय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्मपत्नी थी।

परचुरे शास्त्री एक साधारण ब्राह्मण थे। उन्हे कुष्ठ था। उनको गाधीजी ने अपने आश्रम मे रक्खा सो तो रक्खा, पर रोजमर्रा उनकी तेल की मालिश भी स्वय अपने हाथो करते थे। लोगो को डर था कि कही कुष्ठ गाधीजी को न लग जाय।

पर गाधीजी को इसका कोई भय न था। उनको ऐसी चीजो से अत्यन्त सुख मिलता था।

'४२ के शुरु मे मै वर्धा गया। कुछ दिन बाद उन्होने मुझसे कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा मालूम होता है। इसलिए मेरे पास सेवाग्राम आ जाओ और यहाँ कुछ दिन रहो। मै तुम्हारा उपचार करना चाहता हूँ।" मैने कहा, "वर्धा ठीक है। सेवाग्राम मे क्यो आपको कष्ट दूं।" मुझे सकोच तो यह था कि सेवाग्राम मे पाखाना साफ करने के लिए कोई मेहतर नही होता। वहाँ पर टट्टी की सफाई आश्रम के लोग करते है। जहाँ मुझे ठहराना निश्चित किया गया था, वहाँ की टट्टी महादेवभाई साफ किया करते थे। मैने उन्हे अपना सकोच वताया कि क्यो मै सेवाग्राम नही आना चाहता था। मै स्वय अपनी टट्टी साफ नही कर सकता और यह वर्दाश्त नही कर सकता कि महादेवभाई-जैसा विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मण उस काम को करे। गाधीजी को मेरा सकोच निरा वहम लगा। पाखाना उठाना क्या कोई नीच काम है? महादेवभाई ने भी मजाक किया, परन्तु मेरे आग्रह पर मेहतर रखना स्वीकार कर लिया गया। आगाखाँ-महल मे जब उनका उपवास चलता था तो मै गया। बडे बेचैन थे। बोलने की शक्ति करीब-करीब नही के बराबर थी। मैने सोचा कि कुछ राजनैतिक बाते करूँगा, पर आश्चर्य हुआ। पहुँचते ही हम सबकी कुशल-मगल, छोटे-मोटे बच्चो के बारे मे सवाल और घर-गृहस्थी की बाते। इसीमे काफी समय लगा दिया। मै उनको रोकता जाता था कि आपमे

शक्ति नही है, मत बोलिये, पर उनको इसकी कोई परवा नही थी।

इस तरह की उनकी आत्मीयता थी, जिसने हजारो को उनका दास बनाया। नेता बहुत देखे, सन्त भी बहुत देखे, मनुष्य भी देखे, पर एक ही मनुष्य मे सन्त, नेता और मनुष्य की ऊँचे दर्जे की आत्मीयता मैने और कही नही देखी। मै अगर गाधीजी का कायल हुआ तो उनकी आत्मीयता का। यह सबक है, जो हर मनुष्य के सीखने के लायक है। यह एक मिठास है, जो कम लोगो मे पाई जाती है।

गाधीजी करीब पौने पाँच महीने इस मर्तबा हमारे घर मे रहे। जैसा कि उनका नियम था, उनके साथ एक बड़ी बरात आती थी। नये-नये लोग आते थे और पुराने जाते थे। भीड बनी रहती थी। घर तो उनके ही सुपुर्द था। कितने मेहमान उनके ऐसे भी आते थे, जो मुझे पसन्द नही थे, जो उनके पासवालो को भी पसन्द नही थे। बम गिरने के बाद बहुतो ने उन्हे बेरोक-टोक भीड मे घुस जाने से मना किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उनके लिए करीब तीस मिलिटरी पुलिस और पद्रह-बीस खुफिया बिडला-भवन मे तैनात कर रक्खे थे, जो भीड मे इधर-उधर फिरते रहते थे, पर मै जानता था, इस तरह से उनकी रक्षा हो ही नहीं सकती। जो लोग आते थे उनकी झडती लेने का विचार पुलिस ने किया, मगर गाधीजी ने रोक दिया। हर सवाल का एक ही जवाब उनके पास था—"मेरा रक्षक तो राम है।"

उपवास के बाद उनका हाजमा बिगडा। मैने कहा,

"कुछ दवा लीजिये।" फिर वही उत्तर—"मेरा वैद्य राम है।" "मेरी दवा राम है।" कुछ अदरक, नीबू, घृतकुमारी का रस, नमक और हीग साथ मिलाकर उनको देना निश्चय किया। आग्रह के बाद साधारण खान-पान की चीज समझकर उन्होंने इसे लेना स्वीकार किया। पर वह भी कितने दिन! अन्त मे तो राम ही उन्हे अपने मन्दिर मे ले गए।

उनके अन्तिम उपवास ने उनके निकटस्थ लोगो मे काफी चिन्ता पैदा की। उपवास के समय मैंने काफी बहस की। मैंने कहा, "मेरा आपका बत्तीस साल का सम्पर्क है। आपके अनेक उपवासो मे मैं आपके पास रहा हूँ। मुझे लगता है कि आपका यह उपवास सही नही है।" पर गाधीजी अटल थे। यह कहना भी गलत है कि गाधीजी आसपास के लोगो से प्रभावित नही होते थे। बुद्धि का द्वार उनका सदा खुला रहता था। बहस करनेवाले को प्रोत्साहन देते थे, और उसमे जो सार होता उसे ले लेते थे, चाहे वह कितने ही छोटे व्यक्ति से क्यो न मिलता हो। बार-बार बहस करते-करते मुझे लगा कि उनके उपवास के टूटने के लिए काफी सामग्री पैदा हो गई है। मुझे बबई जाना था। जरूरी काम था। मैंने उनसे कहा, "मै बबई जाना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि अब आपका उपवास टूटेगा। न टूटनेवाला हो तो न जाऊँ।" मैंने यह प्रश्न जान-बूझकर टटोलने के लिए किया। उन्होंने मजाक शुरू किया। कहा, "जब तुम्हे लगता है कि उपवास का अन्त होगा तो फिर जाने मे क्या रुकावट है? अवश्य जाओ, मुझसे क्या पूछना है?" मैंने कहा, "मुझे तो उपवास का अन्त लगता

है, पर आपको लगता है या नही, यह कहिये।" उन्होंने मजाक जारी रक्खा और साफ उत्तर न देकर फदे मे फँसने से इन्कार किया। मैंने कहा, "नचिकेता यम के घर पर भूखा रहा तो यम को क्लेश हुआ, क्योकि ब्राह्मण घर मे भूखा रहे तो पाप लगता है। आप यहाँ उपवास करते है तो मुझपर पाप चढता है। इसलिए अब इसका अन्त होना चाहिए।" गाधीजी ने कहा, "मै कहाँ ब्राह्मण हूँ! पर आप तो महाब्राह्मण है।" इस पर वडा मजाक रहा। मैंने कहा, "अच्छा, आप यह आशीर्वाद दीजिये कि मै शीघ्र-से-शीघ्र आपके उपवास टूटने की खबर ववई मे सुनूं।" फिर भी उनका मजाक तो जारी ही रहा। मैंने कहा, "अच्छा, यह वताइये कि आप जिन्दा रहना चाहते है या नही?" उन्होंने कहा, "हाँ, यह कह सकता हूँ कि मै जिन्दा रहना चाहता हूँ। वाकी तो मै राम के हाथ मे हूँ। उपवास तो समाप्त हुआ, लेकिन राम ने उन्हे छोडा नही।

एक दीपक बुझ गया, पर हमारे लिए रोशनी छोड़ गया।

: ७ :

सबसे निराले

पडितजी को दूर से तो मैं वैसे कई सालो से देखता आ रहा था, पर पहले-पहल मेरी मुलाकात उनसे १९२४ मे हुई। गांधीजी अपने अपेडिक्स के आपरेशन के बाद जेल से छूटकर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू मे ठहरे हुए थे। एक रोज मैं गाधीजी से मिलने को जुहू गया, तो बातो-ही-बातो मे उन्होने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो ?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नही हूँ।" मैने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने की कोशिश करो !" मैं गाधीजी के पास से उठकर पडितजी के पास गया। वह बरामदे मे एक कोने मे बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताजगी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ मे गीता की पुस्तक थी, जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझ पर पडी, उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय मे शायद ही कभी प्रवेश कर सकूँ।

मै स्वनामधन्य पडित मोतीलालजी के पास काफी उठा-बैठा हूँ। लाला लाजपतराय और पडित मालवीयजी की भी सेवा मैने की। बापू के चरणो मे बत्तीस साल तक रहा। पर पडित जवाहरलालजी मुझे इन सबसे निराले दीखे है।

मालवीयजी एक निर्मल जल के सरोवर-जैसे लगते थे, जिसमे प्रवेश करने मे मुझे कभी झिझक नही होती थी। बापू ऐसे लगते थे, जैसे गगा की पवित्र धारा। इसमे स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी और पाप और परिताप से मुक्ति मिलती थी। इन दोनो ही जलो मे गोता लगाना मुझे आसान मालूम देता था। पर पडितजी मेरी दृष्टि मे सदा एक अगाध समुद्र रहे है, जो विशाल है, बृहत् है, अपनी ओर खीचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है, और प्रभावान्वित भी करता है, पर जिसका अवगाहन भयप्रद है।

सन् १९२४ के वाद पडितजी के काफी परिचय मे आया। उनका काफी अध्ययन किया। उनके साहित्य को पढा। पर मै नही कह सकता कि मै आज भी उन्हे जान पाया हूँ। पडित-जी मेरे लिए सदा ही समुद्र की तरह 'अनवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा' रहे है।

एक वार मैने स्वर्गीय महादेवभाई देसाई से पूछा था, "महादेवभाई, जवाहरलालजी को जानते हो? जानते हो तो वताओ वे क्या है?" उन्होने कहा, "जवाहर ग्रीक फिलास्फर है। वह सौन्दर्य का उपासक है। वह कभी सौन्दर्यहीन काम नही कर सकता।"

गोल्डस्मिथ ने कहा है—"सुन्दर वह है जो सुन्दर करता है।" सभव है, महादेवभाई का तात्पर्य 'सत्य सुन्दरम्' से रहा हो। जो सुन्दर है, वह सत्य भी होना चाहिए, कल्याणकारी भी होना चाहिए।

मैने समालोचक वनकर पडितजी का अध्ययन किया है

और मुझे लगता है, पडितजी के सबध मे महादेवभाई का चित्रण अक्षरश सही है। पडितजी चाहे एक क्षण के लिए आवेश मे आ जायँ, पर उन्हे उनकी न्याय-बुद्धि कभी नही छोडती। एक विशिष्ट पुरुष ने मुझसे एक मर्तबा कहा था, "जवाहरलाल क्रातिकारी नही, एक उच्च कोटि का लिबरल है जो हर चीज के दोनो पहलुओ को मद्देनजर रखकर निर्णय करता है और कभी-कभी दोनो पहलुओ को इतना तौलता और मापता है कि स्पष्ट निर्णय मे भी कठिनाई पाता है।" इन सब वर्णनो के बाद मुझे आश्चर्य नही हुआ, जब गाधीजी ने अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले मुझसे एक बार कहा, "जवाहर विचारक है, सरदार कारक है।"

पडितजी के भीतर जो मथन और सघर्ष चलता रहता है, उसकी छाप हर बारीकी से अध्ययन करनेवाले पर पडे बिना नही रहती। हर चीज के स्पष्ट निर्णय मे जो एक विचारक को कठिनाई पडती है, उसका आभास उसकी भाव-भगी मे मिलता है। पडितजी हँसते है तो भी एक तरह की उदासी उनके चेहरे पर से कभी नही हटती। दिलीप के बारे मे कालि-दास ने कहा है कि उसमे 'वृद्धत्व जरया विना' था। पडितजी मे 'वृद्धत्व जरया विना' और 'विना बाल्येन चापल्य' दोनो है। नम्रता है तो आवेश भी है। उत्साह है तो थकान भी है। दिल गरीब है तो तबीयत रईसाना भी है। हठ है पर समन्वय है। बहादुर है तो लोकमत के सामने झुकते है। कुशाग्रबुद्धि है पर उनमें भोलापन भी है। यह सब द्वन्द्व इस तरह से भीतर

सग्राम करते है कि इसका प्रतिबिब पडितजी के चेहरे पर आ ही पडता है।

साधारण मान्यता है कि पडितजी को धर्म मे कोई श्रद्धा नही है, न उन्हे ईश्वर मान्य है। कभी-कभी पडितजी के सार्वजनिक उद्गारो से इस कथन का समर्थन भी होता है। पर इसमे भी मतभेद की काफी गुजायश लगती है। धर्म क्या है और ईश्वर क्या है, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि पडितजी के ईश्वर-सबधी मन्तव्य क्या है। पर गाधीजी इस कथन का भी विरोध करते थे। बहस मे एक बार उन्होने मुझसे कहा, "जवाहर नास्तिक नही है। जो मनुष्य कहता है, आजादी अवश्य मिलेगी, उसके इस कथन का आधार विज्ञान नही, श्रद्धा है। और श्रद्धा आस्तिकता का प्रदर्शन है, नास्तिकता का नही।" यह सही है। कुछ दिन पहले इलाहाबाद साइस-काग्रेस मे व्याख्यान देते समय पडितजी ने कहा, "मै पन्तजी से सहमत नही हूँ जब वह कहते है कि कुदरत का कानून अस्थायी है। असल मे तो कुदरत का कानून अटल और अजय है। मनुष्य उसे समझने मे और उसपर विजय पाने मे अब तक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है वह इतना ही कि मनुष्य कुदरत से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नही, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य मे सामजस्य को गांधीजी ने अपने प्रवचनो मे काफी महत्त्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिए भी बुरे साधनो का प्रयोग त्याज्य है, इस पर गाधीजी ने जितना

भार दिया है, उतना हमारे प्राचीन लोगो ने शायद ही दिया हो।

राजनैतिक दाँवपेच हर युग मे चलते रहे है और हमारे पूर्वज भी इन दॉवपेचो से वचित न थे। देव-दानवो के सघर्ष मे देवो की गिरती आई तो वामन ने बाली को धोखा दिया। इसके पहले श्री विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यो से अमृत चुराया। राम ने छिपकर बाली को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। भारत की भविष्य की परराष्ट्र-नीति इन दॉवपेचो का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुजाइश नही। पर गाधीजी इस पैतरेबाजी से परे थे और उस नीति का जवाहर-लालजी पर भी प्रभाव पडा है, ऐसा उनके अनेक उद्गारो मे पता चलता है। गाधीजी का यह स्वर्ण-नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नही चढा। जवाहरलालजी यदि इसको व्यावहारिक रूप मे सफल कर दिखायेगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्भुत विजय होगी।

जवाहरलालजी एक महान् व्यक्ति है। उनमे महत्ता क्या है, इसका विश्लेषण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा महज अपने बुनियादी तत्त्वो के कारण ही कीमती नही होता। कहते है, जो तत्त्व हीरे मे है, वे कोयले मे भी है। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पडितजी मे अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है, तेजस्विता है, विद्वत्ता है और ऊँचे दरजे की साहित्यिक कला-कुशलता है। पर उन्हे किस चीज ने बडा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बडे है और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

फरवरी, १९४९

जमनालालजी

सोमवार की वात है। जमनालालजी से मिले दो-तीन दिन हो गए थे। मै तो था सेवाग्राम मे और जमनालालजी वर्धा मे। मैने सोचा, चलो, जमनालालजी को यहॉ बुला ले और कुछ इधर-उधर की वाते भी कर ले। इसलिए मैने सन्देश भिजवा दिया कि जरूरी काम है, मिल जाइयेगा।

उस दिन जमनालालजी की तवीयत खराव थी। सिर मे कुछ चक्कर आ रहे थे। मेरा सन्देश उन्हे मिला तव दोपहर की कडी धूप थी। सन्देश मिलने पर उन्होने जानकीदेवी से कहा, "घनश्यामदास के पास कोई जरूरी काम नही है। आज वापू का मौनवार है, इसलिए मालूम होता है, वह अकेला ऊव गया है और महज दिलवहलाव के लिए मुझे वुला भेजा है। पर मै तो जाऊँगा।" जानकीदेवी ने कहा, "कोई जरूरी काम नही है तो न जाइये। उसे क्या पता, आपकी तवियत आज ढीली है।" पर जमनालालजी का स्वभाव ही ऐसा था कि वे अपने शरीर की कम परवा करते थे। जव उनका ज्यादा हठ देखा तो जानकीदेवी ने कहा, "अच्छा, जाना है तो शाम को जाइये। इस दोपहर की धूप को तो टाल दीजिये।"

जानकीदेवी का आग्रह मानकर जमनालालजी दोपहर के वजाय शाम को सेवाग्राम पहुँचे। मैने उन्हे देखते ही मजाक

भार दिया है, उतना हमारे प्राचीन लोगो ने शायद ही दिया हो।

राजनैतिक दाँवपेच हर युग मे चलते रहे है और हमारे पूर्वज भी इन दाँवपेचो से वंचित न थे। देव-दानवो के संघर्ष मे देवो की गिरती आई तो वामन ने बाली को धोखा दिया। इसके पहले श्री विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यो से अमृत चुराया। राम ने छिपकर बाली को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। भारत की भविष्य की परराष्ट्र-नीति इन दॉवपेचो का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुजाइश नही। पर गाधीजी इस पैतरेबाजी से परे थे और उस नीति का जवाहरलालजी पर भी प्रभाव पडा है, ऐसा उनके अनेक उद्‌गारो से पता चलता है। गाधीजी का यह स्वर्ण-नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नही चढा। जवाहरलालजी यदि इसको व्यावहारिक रूप मे सफल कर दिखायेगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्‌भुत विजय होगी।

जवाहरलालजी एक महान् व्यक्ति है। उनमे महत्ता क्या है, इसका विश्लेपण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा महज़ अपने बुनियादी तत्त्वो के कारण ही कीमती नही होता। कहते है, जो तत्त्व हीरे मे है, वे कोयले मे भी है। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पंडितजी मे अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है, तेजस्विता है, विद्वत्ता है और ऊँचे दरजे की साहित्यिक कला-कुशलता है। पर उन्हे किस चीज ने बडा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बडे है और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

रवरी, १९४९

जमनालालजी

सोमवार की बात है। जमनालालजी से मिले दो-तीन दिन हो गए थे। मै तो था सेवाग्राम मे और जमनालालजी वर्धा मे। मैने सोचा, चलो, जमनालालजी को यहाँ बुला ले और कुछ इधर-उधर की बाते भी कर ले। इसलिए मैने सन्देश भिजवा दिया कि जरूरी काम है, मिल जाइयेगा।

उस दिन जमनालालजी की तबीयत खराब थी। सिर मे कुछ चक्कर आ रहे थे। मेरा सन्देश उन्हे मिला तब दोपहर की कडी धूप थी। सन्देश मिलने पर उन्होने जानकीदेवी से कहा, "घनश्यामदास के पास कोई जरूरी काम नही है। आज बापू का मौनवार है, इसलिए मालूम होता है, वह अकेला ऊब गया है और महज दिलबहलाव के लिए मुझे बुला भेजा है। पर मै तो जाऊँगा।" जानकीदेवी ने कहा, "कोई जरूरी काम नही है तो न जाइये। उसे क्या पता, आपकी तबियत आज ढीली है।" पर जमनालालजी का स्वभाव ही ऐसा था कि वे अपने शरीर की कम परवा करते थे। जब उनका ज्यादा हठ देखा तो जानकीदेवी ने कहा, "अच्छा, जाना है तो शाम को जाइये। इस दोपहर की धूप को तो टाल दीजिये।"

जानकीदेवी का आग्रह मानकर जमनालालजी दोपहर के बजाय शाम को सेवाग्राम पहुँचे। मैने उन्हे देखते ही मज़ाक

मे कहा, "वहाँ विना काम आप पडे थे, इसलिए मैंने यहाँ वुला लिया। कोई काम तो नही था।" जमनालालजी ने भी हँसकर कहा, "देखो, मैंने तो जानकी से पहले ही कह दिया था कि कोई काम नही है। पर तो भी चला आया, हालाँकि आज मेरी तवीयत अच्छी नही थी।"

तवीयत की खरावी का जिक्र आते ही मेरी हँसी गायव हो गई। मैंने कहा, "आप आये ही क्यो ? मुझे कुछ काम की वाते भी करनी थी। पर अव नही करूँगा। फिर करेगे। आप फौरन लौट जाइये।" तो भी वे वैठ गए। कुछ इधर-उधर की वाते की। मालूम हुआ, उन्हे कुछ चक्कर आ रहे थे। मैंने कहा, "आप जाइये ! स्वस्थ होने पर फिर वाते कर लेगे।"

मुझे पता भी नही था कि जमनालालजी का इन दिनो रक्त-दवाव वढ गया था। ऐसा पता होता तो चक्कर का नाम सुनते ही मैं चौकन्ना हो जाता। मैंने पूछा भी नही कि रक्त-दवाव की शिकायत तो नही है ?

"वृहस्पतिवार को आऊँगा।" जमनालालजी ने कहा।

वृहस्पति को सेवाग्राम और वर्धा के वीच की पहाडी पर सुवह साढे सात वजे हम मिलेगे, ऐसा निर्णय हम दोनो ने कर लिया और जमनालालजी वर्धा के लिए चल पडे। जाते-जाते महादेवभाई से कह गए—"महादेव, कुछ चक्कर-सा आता है। घनश्यामदास का वारट गया, इसलिए चला आया। पर जाता हूँ।" महादेवभाई ने कहा, "विश्राम लीजिये !" उन्हे पता था कि जमनालालजी को रक्त का दवाव अधिक था, उस

समय दबाव ज्यादा था या कम, इस जॉच की कोई आवश्यकता भी उस समय उन्हे महसूस नही हुई।

जाते-जाते जमनालालजी ने सोचा, चलो, बापू को भी तो नमस्कार कर चले। गाधीजी की कुटी की तरफ गये तो पता चला कि गाधीजी भोजन के लिए भोजनालय की तरफ चले गए है। इसलिए विना नमस्कार किये ही अपने तॉगे की ओर चल दिये। गाधीजी ने जाते हुए जमनालालजी की पीठ देखी। गाधीजी का मौन था, इसलिए उन्होने इन्हे पुकारा नही, हालॉकि गाधीजी की इच्छा हुई कि जमनालालजी मिल जाते तो ठीक था। जमनालालजी उनसे मिले नही, इसलिए गाधीजी को यह भी पता नही चला कि उस दिन जमनालालजी कुछ रुग्ण थे और उन्हे चक्कर आ रहे थे।

तॉगे मे वैठे-वैठे फिर जमनालालजी ने पुकारकर मुझसे कहा, "वृहस्पति को आऊँगा।"

"पूरा आराम लीजियेगा, जल्दी न कीजियेगा।" मैने उत्तर मे कहा।

वृध को जमनालालजी विलकुल स्वस्थ थे। सुवह टहलने गये। मित्रो से कहा, "आज तवीयत विलकुल दुरुस्त है।" दो दिन तक उन्होने उपवास किया था। उसका काफी अच्छा असर हुआ। वुध को वारह वजे उन्होने भोजन किया और तीन घटे वाद इस ससार से विदा ले ली।

वृहस्पति को साढे सात वजे सुवह सेवाग्राम और वर्धा के वीच की पहाडी पर हमारी भेट होनेवाली थी। वीच मे यह दुर्घटना हो गई। तो भी जमनालालजी जिन्दा ही है, ऐसा

लगता था। मैं सुवह उस पहाडी पर टहलने गया, जहाँ हम दोनो ने मिलना तय किया था। "जमनालालजी! ओ! ओ! ओ! जमनालालजी!" कई मरतवे मैंने जोर की आवाज दी। पर सिवा जगल की प्रतिध्वनि के और कोई उत्तर नही मिला।

जमनालालजी सचमुच हमसे विदा हो चुके थे!

मैंने महादेवभाई से कहा, "महादेवभाई, क्यो नही मैंने जमनालालजी से पूछा कि आपको रक्त का दवाव तो नही है? यदि मैंने प्रश्न किया होता तो मुझे उनकी वीमारी का भेद खुल गया होता और हम लोग सावधानी से उनका उपचार करते।"

महादेवभाई ने कहा, "क्यों नही मैंने जानते हुए भी कि उनको अधिक रक्त-दवाव की शिकायत है, उनकी उसी समय हमारे सेवाग्राम के डाक्टर से परीक्षा करवा ली? यदि मैं ऐसा करवा लेता तो मुझे पता चल जाता कि उनका रक्त-दवाव काफी ऊँचा है और उन्हे सेवाग्राम से जाने नही देता और लिटाकर रखता।"

"क्यो नही," गाधीजी ने कहा, "जमनालाल सेवाग्राम आकर भी मेरी तरफ आया? यदि वह मुझसे मिलता तो अवश्य अपने चक्कर की वात मुझे कहता और मैं उसी समय उसे सेवाग्राम मे कैद करके पूरा विश्राम लेने के लिए वाध्य करता।"

पर इस 'क्यो नही'.. का उत्तर कौन दे? कितनी वार हम "क्यो नही" कहते है, पर इसका उत्तर तो यह है

अभूतपूर्वो न च केन दृष्टो,
हेम्नः कुरंगो न कदापि वार्ता।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य,
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥

—सोने के मृग भी कभी हुआ करते है—साधारण मनुष्य को भी यह ज्ञान तो है। फिर राम-जैसे महापुरुष को यह अविदित थोडे ही था कि सोने के मृग नही होते। फिर रामचन्द्र-जी जैसो को स्वर्णमृग-चर्म की तृष्णा क्यो? पर बात तो यह है कि जब कोई दुर्घटना होनेवाली होती है तो निर्णय भी विपरीत हो जाता है—

यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः!

: ९ :

महादेव देसाई

महादेवभाई से मेरा परिचय पहले-पहल कब हुआ, यह तो आज मुझे स्मरण भी नही है। लम्बे अरसे की घनिष्ठ मैत्री की तह मे वह तिथि दब-सी गई है। पर महादेवभाई के मीठे संस्मरणो पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे विश्वास नही होता कि वह मर गए—और फिर जब यह पाता हूँ कि हमारे लिए वह आज सदा के लिए अप्राप्य हो गए है तो एक लम्बी आह निकल पडती है। मरण इस जीवन का नैसर्गिक अत है और मृत्यु का अत जीवन ही होगा, ऐसा भी मान लेना चाहिए। पर तो भी स्वजन की—और सो भी सुजन की—मृत्यु अवश्य ही छलकते हुए हृदय पर मुर्दनी-सी छा देती है। तभी तो भर्तृहरि ने कहा है—"पता नही, यह जगत् जहर है या अमृत !"

महादेवभाई के सस्मरण लिखना मेरे लिए आसान भी है तो कठिन भी। इतने सस्मरण है कि कहाँ से आरम्भ करूँ और कहाँ अत करूँ ! और सारे-के-सारे सस्मरण अत्यन्त सुखदायी है। मुझे याद नही आता जब महादेवभाई को मैने रूठा हुआ पाया हो या क्रुद्ध देखा हो। हँसी तो उनके चेहरे पर आठो पहर खेलती रहती थी। महादेवभाई भावुक श्रद्धालु होते हुए भी व्यावहारिक थे। वह हर-पल कार्य मे तत्पर रहते थे। वह निरालस्य थे। ज्ञान के वह भडार थे। गभीर होते

हुए भी मजाक की उनमे कमी नही थी। बापू के मन्त्रिपद को उन्होने बडी शान के साथ सुशोभित किया और अन्त मे बापू की सेवा करते-करते मर गए। राजाजी ने सच कहा है, "महादेवभाई की मृत्यु से बापू अनाथ हो गए है।"

किसी एक सम्मानित पुरुष को पत्र लिखते समय महादेवभाई ने लिखा था, "मैं बापू का मत्री, सेवक और पुत्र का एक सम्मिलित पुलिदा हूँ।" मैंने महादेवभाई को इन तीनो रूपो मे देखा है। मुझसे तो महादेवभाई का घनिष्ठ भाईचारा था, अत मेरे लिए उनका मन्त्रित्व कोई खास मानी नही रख सकता था। पर तो भी मेरे पास भी महादेवभाई बापू के मत्री बनकर आ सकते है, इसका एक मर्तबा मुझे दिलचस्प अनुभव हुआ और उसके कारण महादेवभाई की योग्यता का मै और भी कायल हो गया।

बहुत वर्षों की बात है। गाधीजी दिल्ली आये हुए थे और हरिजन-निवास मे ठहरे थे। उन्ही दिनो कवि-सम्राट् टैगोर भी 'विश्वभारती' के लिए धन सग्रह करने के दौरे पर निकले थे। वह भी दिल्ली आ पहुँचे। कवि-सम्राट् का कार्यक्रम यह था कि जगह-जगह वह अपनी कला का प्रदर्शन करे और बाद मे लोगो से धन के लिए प्रार्थना करे। गाधीजी को यह चीज चुभ-सी गई। एक इतना बडा पुरुष 'गुरुदेव' इस बुढापे मे जगह-जगह धन एकत्र करने के लिए—और सो भी कुल साठ हजार रुपयो के लिए—अपने नाट्य और नृत्य का प्रदर्शन करे, यह गाधीजी को असह्य लगा। मै तो गाधीजी से रोज ही मिलता था, पर मुझसे उन्होने इसका कोई ज़िक्र नही

किया। लेकिन उनकी वेदना वढती जाती थी और जब उसे वह बर्दाश्त न कर सके तो महादेवभाई से उन्होने अपना सारा दर्द बयान किया।

पहर रात बीती थी। मै अभी सोया नही था। सोने की तैयारी मे लेट गया था। बत्ती बुझा दी थी। अचानक किसी के पाँव की आहट पाकर मै सचेत हो गया। "कौन है?" मैने पूछा। महादेवभाई ने कहा, "मै हूँ।" महादेवभाई चुपचाप मेरे कमरे मे आकर मेरी खटिया के पास बैठ गए। "महादेवभाई, तुम! रात को कैसे? सब मगल तो है न?" "हाँ, सब मगल है। कुछ सलाह के लिए आया हूँ।" मै खटिया पर से उठने लगा। महादेवभाई ने कहा, "लेटे रहिये, लेटे-लेटे ही बाते कर लीजिये, उठने की कोई जरूरत नही।" मैने फिर उठना चाहा, पर अन्त मे महादेवभाई के आग्रह से लेटा ही रहा। "हाँ, तो क्या है? कहो!" मैने पूछा। बस, फिर तो महादेवभाई का प्रवचन चला। मुझमे शक्ति नही कि मै उसे लिपिबद्ध कर सकूँ। जिस ओज और कला के साथ उन्होने गाधीजी की मर्मवेदना का चित्र खीचा, वह देखने लायक था। सारा दृश्य मेरी आँखो के सामने नाचने लगा। महादेवभाई की वाणी मे भावुकता थी, मृदुता थी और थी तेजस्विता।

गुरुदेव का गुणगान और हमारा दुर्भाग्य कि गुरुदेव को थोडे-से धन के लिए इस बुढापे मे नाचना पडे तथा बापू की अतर्वेदना—इन सब चीजो का मर्मस्पर्शी चित्र हृदयगम करते ही मुझे रुलाई आने लगी।

"बापू ने कहा है कि घनश्यामदास से कहो, वह अपने धनी

मित्रो को लिखे कि कुल छ जने दस-दस हजार की रकम गुरु-देव को देकर हिंदुस्तान को इस शर्म से बचा ले और गुरुदेव को निश्चिन्त करके शातिनिकेतन वापस भेज दे।" महादेवभाई ने अपने अभिभाषण की समाप्ति मे कहा।

"महादेवभाई, बापू की पीड़ा को मै समझ सकता हूँ, पर तुम इतनी रात गये, ठिठुरते जाडे मे, यहाँ क्यो आये ? बापू स्वय भी निर्णय कर सकते थे। मै किसके पास भिक्षा मॉगने जाऊँ ? बापू से कहो कि जो देना हो, मुझसे मँगा ले और गुरुदेव को दे दे।" मैने ऐसा कहा तो सही, पर इसका श्रेय तो महादेवभाई को ही था, क्योंकि उनके शात, पर मार्मिक अभि-भाषण ने मेरे लिए दूसरा कोई निर्णय छोडा ही न था।

एक चतुर कलाकार मिट्टी के लोदे को जिस तरह अपनी अगुलियो की करामात से जी-चाहा रूप दे देता है, उसी तरह महादेवभाई ने लोगो के दिल पर मनमाना असर डालकर उसे अपने अनुकूल बना लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी और वह शक्ति अद्भुत थी। उनकी लेखनी मे भी वही ओज था। पर जबान मे भी कम करामात न थी। पारगत मत्री को कभी विनम्र तो कभी रूखा, कभी सहनशील तो कभी असहिष्णु, कभी भावुक तो कभी व्यावहारिक, बनना पडता है। महादेव-भाई एक कलाकार की तरह आवश्यकतानुसार इन सब भावो का प्रदर्शन कर सकते थे।

ठक्करबापा जब सत्तरवे वर्ष मे पहुँचे तो उनके कुछ मित्रों ने उनकी 'मगल-सत्तरी' मनाने का निश्चय किया। और वह निश्चय भी नितान्त निर्जीव था। सत्तरी के उपलक्ष्य मे सत्तर-

सौ—यानी सात हजार—रुपया इकट्ठा करना, इतना ही निश्चय था। गाधीजी ने सुना तो कहा, "ठक्करबापा की सत्तरी मे केवल सत्तर सौ ? न तो सत्तर हजार, न सात लाख। कम-से-कम सत्तर हजार तो इकट्ठा करना ही है।" पर सत्तर हजार भी प्रस्तावको को पहाड-सा लगा। सत्तरी के दिन नजदीक आने लगे, पर धन एकत्र न हो सका। अन्त मे गाधीजी ने महादेवभाई को बबई भेजा। अब तो धन बरसने लगा और दो दिन मे एक लाख बीस हजार एकत्र हो गया।

कुछ साल बीते, गुजरात मे अकाल पडा। तब फिर गाधीजी ने महादेवभाई को बबई धन एकत्र करने के लिए भेजा। निश्चय किया था कोई तीन लाख इकट्ठा करना, पर इकट्ठा हो गया कोई सात-आठ लाख। सबसे आश्चर्य तो यह था कि महादेवभाई को ऐसे लोगो से भी अच्छी रकम मिली, जो अपनी कजूसी के लिए बाजीमार समझे जाते थे।

सचमुच महादेवभाई गाधीजी के महज एक मत्री ही नही, बल्कि एक दूसरे शरीर बन गए थे। गाधीजी के विचारो को उन्होने इतना पी लिया था और उन्हे इतना हज़म कर लिया था कि वह गाधीजी के मत्री ही नही, ऐन मौके पर गाधीजी के सलाहकार और सचालक तक बन बैठते थे।

कुछ ही दिनो पहले एक विलायती अखबार का प्रतिनिधि मौजूदा परिस्थिति पर गाधीजी का एक वक्तव्य लेने के लिए आया। गाधीजी ने खाते-खाते महादेवभाई को वक्तव्य लिखाना आरभ किया। मै देख रहा था कि महादेवभाई की कलम इस सिफत के साथ चलती थी कि गाधीजी की जबान से जो भाषा

निकलती थी, उससे दो-एक शब्द आगे उनकी कलम निकल जाती थी, अर्थात् गाधीजी अमुक शब्द के बाद किस शब्द का प्रयोग करेगे, इसका महादेवभाई को अतर्ज्ञान था, जिसके कारण उनकी लेखनी अपना काम कर चुकती थी। पर जहाँ गाधीजीकी जबान से कोई अनुपयुक्त शब्द निकला कि महादेवभाई की लेखनी रुक जाती थी। कुछ अपनी नापसदगी उस शब्द के सबध मे महादेवभाई जाहिर करते थे, कुछ वाद-विवाद, फिर समझौता और फिर लेखनी का प्रवाह जारी। यह एक दिलचस्प दृश्य होता था। पर इसके अलावा मैंने यह भी देखा है कि गाधीजी गुजराती या हिन्दी मे व्याख्यान दे रहे है और महादेवभाई प्रेसवालो के लिए उसका अग्रेजी मे उल्था करते जाते है, और कलम गाधीजी की जबान के साथ-साथ दौडती जाती है। यह करामात हर मनुष्य मे नही होती।

गाधीजी के अनन्य उपासक होते हुए भी महादेवभाई के अपने स्वतत्र विचार थे। गाधीजी के विचारो का विरोध करने की उनमे क्षमता थी। गाधीजी से भिड जाने की उनमे शक्ति थी और गाधीजी पर उनका खूब असर पडता था। वह कभी-कभी बापू की कडी आलोचना करते थे, पर शुद्ध भक्ति-भावपूर्वक। लेकिन जहाँ गाँधीजी ने एक अतिम निर्णय किया कि बस, महादेवभाई अडिग निश्चय के साथ गाधीजी की योजना मे कूद पडे। सशय-कल्लोल मे खेलना उन्हे पसद नही था।

गाधीजी की चेष्टाओ और वेश-भूषा की महादेवभाई ने कभी नकल नही की। उन्हे कभी 'उपगाधी' बनने का शौक

पैदा नही हुआ। आजीवन वह गाधीजी के अनन्य अनुचर रहे और उनके विचारो को रोम-रोम मे भरकर उनके साथ अभिन्न भी हो गए थे।

दो-तीन सालो मे कई मर्तबा महादेवभाई ने गाधीजी से बहस करके उनके उपवास-सबधी विचारो पर प्रहार किया। कई मर्तबा उन्होने गाधीजी के उपवास-संबधी निर्णयो को बदलवाया भी था।

कहाँ ऐसे मंत्री होते है जो मत्री भी हो और सलाहकार भी हो, जो सेवक भी हो और पुत्र भी हो!

शायद सबको इसका पता भी न हो कि महादेवभाई ने कई साल पहले गीता का अग्रेजी में अत्यन्त प्रामाणिक अनुवाद कुछ टीका के साथ किया था। ज्ञान का भडार तो महादेवभाई का अनुपम था ही। जितना उन्हे पाश्चात्य दर्शन का ज्ञान था, उतना ही हमारे शास्त्रो का भी था। इसलिए गीता के अनुवाद के वह अवश्य ही शास्त्रीय अधिकारी थे। अपने किये हुए अनुवाद के कई अश उन्होने मुझे समय-समय पर सुनाये, जो मुझे अत्यन्त आकर्षक लगे। वह अनुवाद अबतक छपा ही नही। कई मर्तबा मैंने उन्हे उसे छपाने का तकाजा किया, पर असल बात तो यह थी कि गाधीजी की टहल-चाकरी से उन्हे इस अनुवाद को छपाने की फुर्सत ही नही मिली। गाधीजी के सबध मे समय-समय पर लिखी हुई इतनी टीपे (नोट्स) उनके पास थी, वे गाधीजी की बृहत् जीवनी के लिए एक अत्यन्त उपयोगी मसाला है। मै कहा करता था, "महादेवभाई, बापू का बृहत् जीवन-चरित कभी तुम्हे ही लिखना है।" और

महादेवभाई बडे उल्लास के साथ हामी भी भरते थे, पर वह दिन नही आया। "मन की मन ही माँहि रही।"

पर महादेवभाई की मृत्यु अचानक हुई है, ऐसी बात नही है। काल भगवान् का पहला न्यौता तो उन्हे पाँच साल पहले ही आ गया था। गाधीजी के अत्यन्त आग्रह से उन्होने उस समय विश्राम लिया और मृत्यु की भेट से बचे। राजकोट-प्रकरण के जमाने मे फिर उन्हे दूसरा न्यौता मिला। इस समय वहाँ दिल्ली मे आकर मेरे पास दो महीने रहे और फिर रोग-मुक्त हुए। इसके बाद तो गाधीजी के आग्रह करने पर भी उन्होने विश्राम लेने से इन्कार किया। आठेक महीने पहले फिर अचानक रोग ने उनपर आक्रमण किया, पर लाख कहने पर भी दो सप्ताह से ज्यादा उन्होने विश्राम नही लिया।

कुछ समय पहले की बात है। जेठ की दुपहरी थी। गाधी-जी के साथ कडी धूप मे चलते-चलते उन्हे बेहोशी आ गई थी। इसका विवरण सुनकर महादेवभाई से मैने कहा, "महादेवभाई, यह शर्म की बात है कि बूढे बापू तो धूप मे चल सके और तुम बेहोश हो जाओ। कुछ दिन मेरे साथ रहकर विश्राम कर लो और सुदृढ बन जाओ।"

पर महादेवभाई की दीर्घदृष्टि के सामने काग्रेस का आन्दोलन था। गाधीजी के उपवास की आशका थी। इसलिए उनको न थी विश्राम मे रुचि, न थी उन्हे फुर्सत। उपवास की आशका से महादेवभाई काफी त्रस्त थे। उन्होने मेरे तकाजे के उत्तर मे कहा, "मै तीन महीने भी विश्राम ले लूं, तो भी मै कहाँ बापू की बराबरी करने लायक बनूंगा!" मुझसे कहाँ

धूप मे चला जायगा ? मै कहाँ लंबी जिंदगी पाऊँगा ? अच्छा हो, मै तो काम करते-करते ही बापू की गोद मे सिर टेके मर जाऊँ।"

और जैसे भगवान् ने भी कहा—'एवमस्तु !'

कैसा था वह रतन, जो चला गया।

ठक्करबापा

व्यासजी ने कहा था कि करोडो पोथियो मे जो बताया गया है, वही मैं आधे श्लोक मे बता देता हूँ--परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।' अर्थात्--परोपकार ही पुण्य है और दूसरो को पीडा देना ही पाप है। ठक्करबापा को केवल इतने ही कथन से पर्याप्त चित्रांकित किया जा सकता है कि इस आधे श्लोक मे बताये धर्म को उन्होंने अपने जीवन मे पूरी तरह से ओत-प्रोत किया है।

बापा के ससर्ग मे मैं किस सन् या तारीख मे आया, यह तो मुझे स्मरण नही, पर इतना अवश्य याद है कि उस समय उनका अमृतलाल ठक्कर ही नाम चलता था और पिछडे हुए लोगो की सेवा करना उनका पेशा था। 'बापा' की उपाधि तो उन्हे पीछे मे मिली, जो नितान्त सार्थक है।

कहते हैं, ठक्करबापा गृहस्थ थे और इजीनियर भी थे। सुना है कि अफ्रीका मे रेल की पटरियाँ डालने का काम उनके सुपुर्द किया गया था, जिसे उन्होंने अच्छे शऊर के साथ पूरा किया। पर उनकी जीवन-झाँकी, रहन-सहन या वेश-भूषा से उनका गृहस्थ होना या इजीनियर बनकर रेल की पटरियाँ बिछाना कुछ अनोखा-सा लगता है। ठक्करबापा के असली माने तो उनके जानकारो के लिए इतना ही है कि वह एक शुद्ध,

विनम्र और गरीबो के नि स्वार्थ सेवक है, जिनमे न थकान है और न अभिमान। सेवा मे विघ्न आने पर उन्हे अवश्य रोप होता है, पर क्षणिक, और लोगो के दु ख से उन्हे चोट लगती है वह स्थायी। उनकी कोई फिलासफी है तो सेवा की और भक्ति है तो गरीब, पीडितो की।

मेरा गाढ सबध ठक्करबापा से हुआ १९३२ मे। बापू जब यरवदा मे आमरण उपवास की दीक्षा लेकर मृत्यु-शैया पर लेटे थे, तब हम कुछ लोग श्री अम्बेडकर से बातचीत करके किस तरह हरिजन-गुत्थी को सुलझावे, इस चिन्ता मे डूबे पडे थे। समय बीतता जाता था और बापू का शरीर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर डूबता जा रहा था। कुछ लोग सीटो की खीचतान मे थे, जिनपर हम लोगो को रोप आता था। उस समय कितनी सीट न्यायानुकूल हरिजनो को मिले, इसका हिसाब निकालने का भार ठक्करबापा पर रक्खा गया और उन्होने इस भार को पक्षपात-रहित होकर उठाया। पूना-पैक्ट का प्राण हरिजनो को दिया हुआ मताधिकार है, जो ठक्कर-बापा की कृति है। इस दस्तावेज पर हम लोगो ने आँख मूँद-कर हस्ताक्षर किये।

उसके बाद जब 'हरिजन-सेवक-सघ' गठित करने का प्रस्ताव हुआ और मुझे उसका सभापति बनने का आदेश हुआ, तब इसी शर्त पर मैने इसे स्वीकार किया कि सघ का मन्त्रित्व ठक्करबापा को सौपा जाय। सत्तरह साल इस तरह ठक्कर-बापा के ससर्ग मे बीते, जिसकी स्मृति मुझे चिरस्थायी रहेगी।

ठक्करबापा के सबध मे अधिक लिखना बेकार है। कागज, कलम और स्याही उनकी कृति का क्या वर्णन दे सकती है! मेरा यह सद्भाग्य है कि मुझे एक साधु का ससर्ग मिला।

: ११ :

मणीवेन

किसीके जीवन का चित्र खीचते समय अमुक व्यक्ति कब जन्मा, उसने कब-कब क्या-क्या किया, इस चक्कर मे फँसना फिजूल समय गँवाना है, क्योकि किसीके भी जीवन के सबब मे जानना तो हमे इतना ही है कि उसमें ऐसी कौन-कौनसी ख़ूबियाँ थी, जिनसे कि हम कोई सबक सीखे।

कहने के लिए तो जन्म से मृत्यु तक हर मनुष्य के जीवन मे एक अविच्छिन्न शृंखला बतायी जाती है, जो हर मज़िल मे उसके व्यक्तित्व को व्यक्त करती रहती है। तात्पर्य ऐसा कहनेवालो का यह है कि जो व्यक्ति जन्म के समय था, वही जवानी मे है और मृत्यु के समय भी वही रहेगा। किसीके मन्तव्य या विश्वास को ठेस लगाना, यह अभिप्राय कदापि नही है, पर जो जन्मा था वही युवा हुआ और वही वृद्ध होकर मरेगा, यह प्रमाणित करना जरा कठिन है; क्योकि मनुष्य हर घड़ी और हर अवस्था मे सतत बदलता रहता है। ज्यो-ज्यो आयु बीतती है, न तो वह पुराना शरीर ही रहता है और न वह पुराना मन और बुद्धि ही।

आत्मा क्या है? उसे तो हम देख नही पाते, इसलिए उसके तर्क-वितर्क मे न पडना ही अच्छा है। पर इस कथन की भी कोई बुनियाद नही कि आत्मा जीवन-भर 'अपरिवर्तन-

शील' रहती है। कहनेवाले यह भी तो कहते है कि आत्मा एक शुद्ध, बुद्ध, अनादि वस्तु है जो सदा, सब जगह और सबमे एकरस हो व्याप्त रहती है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न नही। यदि ऐसा ही हो, तो फिर मनुष्य अपनी निजी आत्मा की अलग हस्ती का दावा भी कैसे करे! इसलिए जिससे हम कल मिले थे, आज भी वह वही है, यह शुद्ध सत्य नही कहा जा सकता।

जो हो, प्रस्तुत प्रसग तो मणीबेन का है और कहना यह है कि वह कब जन्मी, कैसे पली, क्या शिक्षा पाई, उसने कैसे त्याग को अपनाया, ये अनावश्यक प्रश्न है, क्योकि जिस मणीबेन की मै बात करना चाहता हूँ, वह मणीबेन तो वह है जो इन कुछ सालो मे जनता के सामने आई, और वह सचमुच एक अद्भुत चरित्रवाली तपस्विनी है, जिसका जोड ढूंढना आसान नही।

१९४५ के जाडे की बात है। दिल्ली मे कडाके की सर्दी पडती थी। आकाश स्वच्छ रहता था और दिन मे धूप प्रखर होते हुए भी प्रिय लगती थी। उसी जाडे मे सरदार वल्लभभाई पटेल राज-प्रकरण को लेकर दिल्ली आये थे। मणीबेन भी साथ थी। वैसे तो मै सरदार और मणिबेन दोनो को वर्षो पहले से जानता था, पर १९४५ के बाद के पॉच वर्षो मे पिता-पुत्री से जो निकट सपर्क हुआ, उसीसे उनके हर पहलू का अध्ययन करने का मुझे विशेष अवसर मिला।

रात को हमलोग रोज कमरा बन्द करके अँगीठी जलाकर तापते थे। सरदार को हमलोगो पर इसी कारण तरस आता था। वे स्वय तो एक खादी का कुरता और एक गर्म

जाकेट मे ही कडाके की सर्दी का सामना कर लेते थे और मणीबेन की आवश्यकता तो और भी कम थी। खादी की एक मोटी सफेद साडी और एक सफेद जाकेट इतना ही उसके लिए पर्याप्त था, चाहे कैसा ही हडकप जाडा क्यो न पड़ रहा हो।

कुछ-कुछ अधपके बाल, कद की नाटी और वजन की अत्यन्त हल्की, जीर्णकाय मणीबेन यदि मुँह पर सफेद पट्टी बाँध लेती तो वह जैन साध्वी मे भी खप सकती थी। व्यवस्था-प्रिय मणीबेन हर चीज को अपने कमरे मे व्यवस्थित रखती थी और सरदार की भी व्यवस्था करती थी। बाप-बेटी समय के इतने पाबन्द थे, मेजबान की सुविधा-असुविधा का उन्हे इतना खयाल रहता था कि उसे सकोच मे डाल देते।

सरदार के दिमाग की मशीन हर समय काम करती ही रहती थी। उनको जीर्ण जुकाम की शिकायत सदा बनी रहती थी। इसलिए नाक को रूमाल से बार-बार साफ करते रहते थे और नाक को बार-बार खुजलाते हुए कमरे मे टहलते रहते थे। बैठने की आदत उन्हे कम थी। टहलते-टहलते अचानक कह देते—"बुलाओ अमुक को।" नया आदमी शायद इसका अर्थ भी न समझे। किसे और कहाँ से बुलाओ? पर मणीबेन जानती थी कि वह सबोधन उसके लिए है और बुलाने के माने है अमुक को टेलीफोन पर बुलाना। कभी-कभी टेलीफोन पर आमन्त्रित वह सज्जन पूने मे होता था, तो कभी बबई, कलकत्ता, नागपुर या पेशावर मे, पर मणीबेन ने सबके टेलीफोन के नबरो की अपने दिमाग मे एक पक्की नोंध कर रखी थी, जिसके

कारण विना कुछ हिचकिचाये वह अपने काम पर जम जाती। मेरे मन पर उसकी इस अद्भुत कार्यक्षमता की यह पहली अमिट छाप पडी।

मणीवेन के जीवन का क्या लक्ष्य रहा है, सो तो शायद वह भी ठीक तरह से न वता सके, क्योकि मनुष्य जबतक अपने-आप का अध्ययन नही करता, तबतक स्वय भी नही जानता कि वह क्या है। पर एक चीज स्पष्ट है। मणीवेन के जीवन का ध्येय उनका अपना 'पिता' रहा है। सरदार को उनकी छाया भी सूर्यास्त के उपरान्त विश्राम के समय छोड देती थी, पर मणीवेन का पहरा रहता था चौवीस घटे। उसकी नज़र सरदार सोते हो या जागते हो, काम करते हो या विश्राम करते हो, हर समय उनपर सजग होकर गडी रहती थी और सरदार की हर क्रिया के पीछे प्रच्छन्न रूप से चलती रहती थी। कितनी ही गुप्त मत्रणा या किसीके साथ निजी मुलाकात ही क्यो न हो, मणीवेन मूर्ति की तरह सरदार के निकट सदा प्रस्तुत रहती थी, जैसे वह सरदार का ही अविच्छिन्न अग हो।

कानून का तकाज़ा था कि कैविनेट-मीटिंग मे मत्री की हैसियत से केवल सरदार ही शरीक हो। इसलिए सरदार कैविनेट के भीतर अकेले जाते और मणीवेन वाहर वैठ जाती थी। सरदार ससद् मे जाकर वैठते तो मणीवेन ऊपर गैलरी मे जा वैठती। मणीवेन को इसका कोई क्षोभ नही था, क्योकि वह एक तरह से सरदार के पास ही रहती थी। तन न सही, मन तो था ही।

सरदार का नित्य का अभ्यास था कि सुवह शौच-स्नान

के बाद टहलने जायँ। टहलना उनका तेजी के साथ होता था। तीन मील सुबह और दो-तीन मील शाम को। घर मे भी जब कोई काम न हो तो घूमते ही रहते थे। शायद घूमने से उनके विचारो मे चचलता ज्यादा आ जाती थी। पहाडो पर जब जाते तब तो सरदार दोनो वेला पद्रह-बीस मील का भी चक्कर लगा लेते थे। पर मणीबेन भी इस सब घूम-टहल मे अपनी हड्डियों के पिंजर को दौडाती हुई साथ ही रहती थी। मुझे आश्चर्य होता था कि इतना कम खानेवाली मणीबेन को बीस मील चलने का यह बल कहाँ से मिलता था! अन्न से नही, यह उसके दृढ मानस से मिलता था। जो हो, इस दौड से सरदार से एक कदम, सिर्फ एक ही कदम पीछे, मणीबेन को मै पाता था।

सरदार को जबसे हृदय-रोग का आक्रमण हुआ, तबसे उनका टहलना भी चला गया और साथ ही गया मणीबेन का भी टहलना। अब सरदार ने टहलने के बदले केवल मोटर का घूमना जारी रक्खा। इसके साथ मणीबेन का भी कार्यक्रम बदल गया।

मै रोज सुबह सरदार के साथ घूमने के लिए उनके घर जाता तो सरदार को पाता स्नानघर मे स्नान करते और मणीबेन को स्नानघर के दरवाजे के सामने चर्खा कातते। मणीबेन की एक आँख चरखे पर तो दूसरी आँख रहती थी स्नानघर के दरवाजे पर। और भीतर से पानी की कलकल की, खाँसने की या खडाऊँ की जो भी आवाज आती, उन सबके सकेत मणीबेन को याद थे। सरदार की हर गति का उसके पास एक

कोष था, जो उसे कठाग्र था और जिसके अर्थ केवल वही जानती थी। पानी की एक तरह की आवाज के माने थे, सरदार मुँह धो रहे है, दूसरी तरह का शब्द हुआ, अब शरीरपर पानी डाल रहे है, अब गमछे से शरीर पोछते है, अब धोती पहनते है, तो अब खडाऊँ की आवाज आई और सरदार स्नानघर से निकलेगे। बस, मणीबेन का चर्खा बन्द, और सरदार की चप्पल स्नानघर के दरवाजे के सामने जा सजी। स्वय उठी कि सरदार निकले। "अच्छा, आ गए, चलो," और चली मणीबेन पीछे-पीछे। चरखे से सूत इतना निकालना कि जिससे निजी और सरदार के सारे कपडे उसीमे से बन जायँ। इतना काम, फिर भी किसी चीज का व्यतिक्रम नही। ऐसी गजब की रही है मणीबेन!

शारीरिक भोगो का त्याग कइयो ने किया। कइयो के पास भोग की सामग्री ही नही थी, फिर भी बिना त्याग किये ही त्यागी कहलाये। पर सरदार ने सचमुच मे त्यागा, क्योकि बैरिस्टरी पास करके उन्होने सग्रह किया, अग्रेजी ठाट का जीवनक्रम चलाया, बच्चो को पादरियो के स्कूल मे भेजकर विद्यारम्भ कराया, पैसे कमाये और फिर त्यागा और त्यागा तो ऐसा कि फिर मुंह मोडकर नही देखा।

राजसत्ता आई, तो भी उनकी जीवन-शैली मे कोई फर्क नही पडा। वही सादा जीवन, वही रहन-सहन, वही खान-पान और वही वेश-भूषा। पर मणीबेन का त्याग तो और भी उत्कृष्ट, क्योकि सरदार ने तो भोग करके त्यागा, मणीबेन ने तो भोग को छुआ ही नही। इसका मणीबेन को खयाल हो तो अभिमान भी हो, पर न खयाल है और न अभिमान।

"वीरवल, ला कोई ऐसा नर, पीर, वावर्ची, भिश्ती, खर।" मणीवेन ऐसी ही 'पीर,' 'वावर्ची,' 'भिश्ती,' 'खर' रही है। घर की देखरेख मे वावर्ची कहो या चाकर। सफाई तो घर मे ऐसी कि कचन-सा आँगन। धूल खोजने पर भी न मिले। खर्च कम-से-कम, पर राजाओ-महाराजाओ, राजदूतो और मेहमानो को खिलाने-पिलाने मे कोई कजूसी नही।

सरदार के साथ ससद् मे जाकर सरदार के व्याख्यान के नोट ले, सरदार की डाक मणीवेन के हाथो से गुजरे, मुलाकात की नोध भी मणीवेन रक्खे और रात को दिन की सारी डायरी लिखे। ऐसी 'पीर', रात को सरदार को सुलाकर पीछे सोये और उनके उठने के पहले उठे। एक ही शरीर मे वह सरदार की पुत्री, चाकर, मत्री, धोवी और अगरक्षक रही।

सरदार की अगरक्षा मे मणीवेन ने वहुतो को तग किया, वहुतो को क्षुव्ध किया। कुछ लोगो को अपमानित भी किया। पर मणीवेन को इसका कोई खयाल नही, क्योकि उसने अपनी जान मे किसीका अपमान किया ही नही। उसकी दृष्टि एकागी रही और वह थी सरदार की रक्षा।

मणीवेन की पितृ-भक्ति यदि मूक थी, तो सरदार का पुत्री-वात्सल्य भी मूक था। दोनो एक-दूसरे की भक्ति और स्नेह को पहचानते थे और इसकी स्वीकारोक्ति दोनो की ही मूक होती थी। पर मणीवेन एक वार वीमार पडी तो सरदार की जवान का ताला टूट पडा—"यह मरी, तो मै मरा. . ." पर वे तो पहले ही चल दिये।

सरदार जव मृत्यु-शैया पर पडे तो मणीवेन ने स्पष्ट जान

लिया कि अब उनका अन्त आ गया है। सरदार ने समझ लिया कि अब मृत्यु का द्वार खुल गया है। वे मृत्युशैया पर पडे गुन-गुनाते रहते थे—"मगल मदिर खोलो, दयामय।" पर पिता-पुत्री का वह मौन जारी ही रहा। सरदार ने कभी पुत्री से नही कहा, "मै अब जाऊँगा और तुम्हे यह करना है।" और न मणीबेन ने यह पूछा, "तुम्हारे पीछे से कोई आदेश है क्या?" दोनो-के-दोनो ईश्वरवादी ठहरे, इसलिए भविष्य भगवान् को सौंपकर निश्चित रहा करते थे। मणीबेन अपने कर्तव्य से कभी नही घबराई।

"जिस दिन का मुझे डर था, वह अब आ रहा है"—कहकर उसके कुछ आँसू गिर पडे। मैने ढाढस देते हुए कहा, "ऐसा क्यो मानती हो?" पर मै तो एक साल से मानता था कि उनका अन्त आ रहा है।

सरदार १९४५ के जाडे मे दिल्ली आये और १९५० के जाडे मे दिल्ली से उन्होने अन्तिम विदाई ली। दिल्ली छोडने के पहले सरदार ने अपने मित्रो से एक-एक करके सबसे आखिरी भेट की। वे जानते थे कि यह अन्तिम विदा थी, मित्रो से और दिल्ली से भी। मणीबेन भी यह जानती थी। पर उसने अपना धीरज कभी नही खोया। "ईश्वर को जो स्वीकार है वही होगा, इसमे घबराने की क्या बात है"—यह कहकर वह सन्तोष कर लेती। विदा के दिन सरदार को पहुँचाने के लिए हवाई अड्डे पर सब मित्र-बाधव आये थे। सरदार अपने प्लेन के दरवाजे के पास एक कुर्सी पर बैठकर मुस्कराते हुए सबसे नमस्कार करते रहे और विदा लेते रहे। मै उस समय ...

उनका वह चेहरा भूल नही सकता। शरीर अत्यन्त दुर्बल और नितान्त अशक्त हो गया था। चेहरा पीला पड गया था। पेट मे असह्य पीडा थी, पर सरदार मन को कडा करके कुर्सी पर बैठे-बैठे मखौल करते जाते थे। और हँस-हँसकर सबसे अन्तिम विदा ले रहे थे। उनके पास अब कुछ दिन या घटे बाकी थे। मणीबेन उनके पीछे खडी उनकी अग-रक्षा के ध्यान मे शान्त-चित्त निमग्न थी। उसको भविष्य की कोई चिन्ता नही थी। बम्बई पहुँचकर सरदार केवल तीन दिन जिन्दा रहे। 'मगल मदिर' के द्वार खुल गए।

पर सरदार के प्राण निकले, तब भी मणीबेन ने अपना विवेक अक्षुण्ण रक्खा। दर्शको की एक बडी भीड बिडला-हाउस मे घुस आई और हर कमरे मे आदमी घुस गए। व्यवस्था-प्रिय मणीबेन को यह अव्यवस्था अखरी और सरदार के मृत शरीर को छोडकर व्यवस्था-स्थापन मे लग गई। जब मित्रो ने कहा, "सरदार का दाह चौपाटी पर होना चाहिए," तो उसने कहा, "मेरी दादी सोनापुर गई। बम्बई का हर गरीब सोनापुर जाता है, मेरा बाप भी और कहाँ जायगा!" फिर भी मित्रो ने आग्रह किया, पर मणीबेन अचल रही। आखिर दाह चौपाटी मे न होकर, सोनापुर मे ही हुआ।

कथाओ मे पिता-भक्त पुत्र मिलते है। राम तो थे ही और श्रवणकुमार भी उसी श्रेणी के थे। पति-परायणा सावित्री, सीता और अनेक देवियाँ इस देश मे हो गई। भाइयो मे भरत का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। तुलसीदास ने कहा है, "जो न होत जग जनम भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को?"

किन्तु पिता पर अनन्य निष्ठा रखनेवाली कुमारी मणीबेन जैसी कोई दूसरी नही सुनी।

कल्पना भी एक अजीब चीज है। सरदार यदि गाधीजी से न मिले होते और अपना साहबी ठाट न छोडते तो क्या? मणीबेन भी शायद इगलैड मे जाकर पढती, और जैसे अन्य सम्पत्तिशाली लोगो की पुत्रियाँ अन्त मे शादी करके अपना गृहस्थ-स्थापन करती है वैसे ही वह भी करती। पर इससे देश को क्या मिलता। असलियत तो यह है कि

अधिष्ठान तथा कर्ता
करण च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा
दैव चैवात्र पचमम्॥
न्याय्यं वा विपरीत वा
पचैते तस्य हेतवः॥

अर्थात्—"इस ससार का गाडा अकस्मात् चलता है, चाहे उसे दैव कहे या ईश्वर।"

: १२ :

हीरा

वैसे तो मेरे जन्म के करीव पैंतीस साल पहले से हीरा हमारे यहाँ नौकर था, पर जव मै तीन साल का हुआ, तभी से मै उसे पहचानने लगा। शायद इससे पहले मै उसे पहचानने लगा होऊँ, पर उसकी आज मुझे कोई स्मृति नही है। इस हिसाव से मेरे लिए तो हीरा का जन्म उसी समय हुआ जवकि मै तीन साल का था, हालाँकि हीरा मुझसे करीव वावन वर्ष वड़ा था।

तो हीरा को जव मैंने पहले-पहल जाना, उस समय मुझ-पर उसकी क्या छाप पडी, यह वताना मेरे लिए टेढा काम है। पर प्रयत्न करता हूँ तो मुझे फिर एक मर्तवा उस सुदूर और धुंधले अतीत मे प्रवेश करना पडता है और प्रवेश करने पर मुझे लगता है कि मै एक ऐसे स्थान मे पहुँच गया हूँ, जहाँ चारो ओर केवल कुहरा-ही-कुहरा है। दस कदम के वाद तो—यदि हम काल को भी कदम से नापे तो—एक ऐसा प्रगाढ पर स्वच्छ और धवल अन्धकार है, जो लाख कोशिश करने पर भी हमारे स्थूल और सूक्ष्म चक्षुओ को विलकुल अधे वनाये रखता है। पर यदि हम एक कदम आगे देखने का प्रयत्न करे तो सिवा धुंधलेपन के और कोई चीज सामने—अत्यन्त सामने—खडी है, उसे भी—जैसी है वैसी देखने के लिए—आँखे फाड-

फाडकर एकटक देखता हूँ तो भी उसकी रूपरेखा स्पष्ट नही दिखाई देती। ऐसे उस सुदूर अतीत मे दृष्टि बेकार बन जाती है।

पर जो चित्र आँखो पर उस समय खिच गया है वह एक ऐसे फोटो की तरह है जो किसी अनाडी चित्रकार ने खीचा हो और जिसे खीचने मे न तो उस चित्रकार ने कैमरे की दृष्टि को ठीक एकाग्र किया हो और न रोशनी ही सही दी हो। हम लाख उस चित्र की रूपरेखा दुरुस्त करने की कोशिश करे, पर हमे उसमे कामयाबी नही होती। उस अतीत काल की स्मृति की एक ऐसे सपने से भी तुलना की जा सकती है, जो जिस समय आता है, उस समय तो साफ-सुथरा—सामने मानो नाटक खेला जाता हो और उस नाटक मे हम भी अभिनय करते हो—ऐसा लगता है, पर आँखे खुलते ही स्मृति फीकी पडने लगती है। और जब हम ससार के कोलाहल और दिन की धक्कामुक्की मे फँस जाते है तब तो वह चित्र हमारी आँखो से बिलकुल गायब हो जाता है।

बाल्यकाल के कच्चे दिमाग पर खिचा हीरा का वह धुँधला-सा चित्र। रूपरेखा सारी अस्पष्ट और ऊपर के समय की रफ्तार की घिसावट।

समय की रफ्तार तो मानो रात-दिन का अविच्छिन्न प्रपात। रही-सही रूपरेखाओ को और भी मलिन बना दिया। पर हीरा का चित्र तो फिर भी सामने खडा ही रहा। और जो चित्र पहले-पहल अस्पष्ट रूप से दिमाग के पटल पर पडा, वह फिर ज्यो-ज्यो पटल-चित्र आगे चला, स्पष्ट बनता गया।

और वाद के चित्र ने पहले के चित्र की रूप-रेखाओ को स्पष्ट करने मे सहायता पहुँचाई। इस तरह हीरा का चित्र सुस्पष्ट वन गया।

मै वता चुका कि हीरा, जब उसे मैने पहले-पहल जाना, तबतक वावन साल का हो चुका था और करीव पैंतीस साल हमारे यहॉ नौकरी करते भी उसे हो गए थे। मैने वाद मे सुना कि हीरा के मॉ-वाप उसके वचपन मे ही मर गए थे और वह वचपन से ही हमारे यहॉ आकर नौकरी करने लगा था। हीरा को अपने वाल्यकाल की कोई स्मृति नही थी, पर उसका खयाल था कि उसके मॉ-वाप सवत् १९०० के भयकर दुर्भिक्ष मे विना अन्न के, भूख के मारे, मर गए थे।

सवत् १९०० और १९०१ ये दोनो साल अत्यन्त भीपण दुर्भिक्ष के थे। सुना है, इन दोनो सालो मे राजपूताना मे लाखो मनुष्य, विना रोटी, कुत्ते की मौत मर गए। चूंकि ये दोनो दुर्भिक्ष एक के वाद एक सटे आये, इसलिए लोगो ने इनका नाम 'सैया' और 'भैया' रक्खा। सवत् १९०० के दुर्भिक्ष का नाम पडा 'सैया' और सवत् १९०१ के दुर्भिक्ष का नाम 'भैया' पडा। इनकी भीपणता का खयाल दिलाने के लिए लोग आज भी गीतिका "चाकी चाले रे सैया, माणस वोले रे भैया" गाते है, अर्थात् सैया और भैया की भीपणता के वाद "चक्की चलती है या तो मनुष्य अव भी वोल रहे है।" ऐसा कथन भी आश्चर्यजनक माना गया। हीरा का खयाल था कि इन्ही अकालो मे उसके मॉ-वाप मर गए। और सुना कि हीरा की नौकरी पहले-पहल हमारे यहाँ केवल एक रुपया माहवार थी।

पर जब मैंने उसे जाना तब तो एक रुपया, खाने को रोटी और पहनने को कपडा भी मिलने लगा था। शादी तो हीरा ने की ही नही। माँ-बाप तो थे ही नही। इसलिए हमारे कुटुम्ब को छोडकर हीरा के लिए और कोई ममत्व का स्थान नही रह गया था। हमारे कुटुम्ब को ही उसने आश्रय का स्थान माना और अन्त तक ऐसे ही मानता रहा।

जब मैंने पहले-पहल हीरा को देखा. तब वह 'साठी के नजदीक पहुँच रहा था। बाल उसके किरडकाबरे हो चले थे। पर हीरा के मन मे बुढापे ने प्रवेश नही किया था। उसे अपने व्यक्तित्व का तो अभिमान था ही, उत्साह, उमंग और आशा की भी उसमे कमी नही थी।

हमारे यहाँ उस ज़माने मे दो ऊँट थे। अकस्मात प्राय एक ऊँट काले रग का रहता था और एक सफेद रग का। काले को हम लोग कालिया ऊँट और सफेद को धोलिया ऊँट कहते थे। हीरा का ऊँटो को प्यार, यह वर्णनातीत वस्तु है। उसकी थाह तो हीरा को ऊँटो की सार-सँभाल करते जिन्होंने देखा है वे ही जानते है। पर मैंने यह देखा कि उन दो ऊँटों मे हीरा का ममत्व धोलिये पर ज्यादा रहा करता था। इसका कारण भी था। धोलिया ऊँट और यह भी अकस्मात् तेजस्वी और आकरे स्वभाव का होता था और हीरा को इनका खूब गर्व था, क्योकि ऐसे ऊँट हर टोले मे नही जन्मते थे। हीरा का ऊँट और ऊँटो से कुछ भिन्न है, उसकी अपनी अलग शान है, यह प्रकट करने मे हीरा कभी नही चूकता था। इसलिए वह जब ऊँट पर सवार होता था तो बेतकल्लुफी से

नही। शायद उसने माना हो कि ऐसा करना यह बोलिये-जैसे प्रतिष्ठित ऊँट के लिए अपमान होगा। इसलिए ऊँट पर चढने से पहले गाढे का पाजामा और नैनसुख की (और अगर जाडे का मौसम हो तो रुईदार) कमरी, पाँवो मे चोबदार जरी की मोचडी, एक पाँव मे चाँदी का छैलकडा और ताँती, कमर मे तलवार और बगल मे सीगसाज—इन सब चीजो से सिंगर-कर ही हीरा ऊँट पर चढता था। और सीगसाज भी पूरे दुरुस्त। कूँपी मे बारूद, बटुए मे पटाखा और दूसरे बटुए मे शीशे की दस-बीस गोलियाँ। बदूक भरी, सिर्फ दागने भर की देर। दाढी बीच मे फाँटकर, आधी एक कान पर से और आधी दूसरे कान पर से और कान के इर्द-गिर्द अढाई आँटे (यह माप भी हीरा ने बताया था) देकर बाँधी हुई। कानो मे•सोने की बीरबली और गले मे हनुमानजी की मूर्ति की सोने की तख्ती। दाढी पर जाडिया। सिर पर साफा और साफे पर चद्दर का दुमाला मारे हुए।

इस साजबाज के साथ हीरा की शक्ल एक योद्धा की-सी लगनी चाहिए थी। पर अफसोस कि हीरा का कद ठिंगना था, शरीर हलका। इसलिए लाख कोशिश करने पर भी हीरा ज़रा-सा 'माणस' लगता था। और ऊपर से यह दूसरा अफसोस कि हीरा राजपूत न था, जाट था। हीरा अपनी जात को बाहर अनजाने लोगो के सामने छिपाता भी था, पर लोग ताड जाते थे। इसका हीरा को दुख था। फिर भी अपनी शान बताने में हीरा को कभी आलस्य नही होता था। और इस वेश-भूषा से सजने का भी शायद यही कारण था कि हीरा

अपने गर्व को छिपाना नही चाहता था। पर एक बात का हीरा का गर्व बिलकुल सही था—धोलिया-जैसा ऊँट चौखले-भर मे ढिंढोरा फेरने से भी मिलना असम्भव था। इसलिए जब हीरा ऊँट पर चढता था, तब वह सातवे आसमान पर पहुंच जाता था।

वैसे तो धोलिया ऊँट हजारो मे भी नही छिप सकता था, पर ऊँट की ख्याति छिपी न रह जाय, इसके लिए हीरा अहर्निश सावधान रहता था। इसलिए जब ऊँट पर चढने का समय आता था तब तो हीरा के लिए सवारी एक असाधारण कृत्य बन जाता था। ऊँट की गोडी बाँधकर जब वह कूँची कसने की तैयारी करता था तो पहले ऊँट का मिजाज गरम करने के लिए वह ऊँट पर दो बेत ज़ोर से फटकार ही देता था। बस, इतना किया कि ऊँट ने शुरू किया अरडाना। यह तो मानो लोगो को इकट्ठा करने का आह्वान था। सटक-सटक काम छोड-छोडकर लोग हीरा के इर्द-गिर्द आ जमते थे, क्योकि हीरा का ऊँट पर चढना यह एक देखने लायक दृश्य होता था। ऊँट भी तो लाजवाब था। ऊँट की पीठ पर पान कटे हुए। उसके पहनने को नया मोहरा और बेलचा। उसके गले मे कौडियो की पट्टी। नाको मे चाँदी की बाली और गिरवाण। कूँची के घडे बनाती। पागडे पीतल के, ऊपर लाल मजीठ की खोली चढी हुई। पूंछ बंधी हुई। कूँची पर सफेद स्वच्छ गद्दी। इस शान का ऊँट ! और वह शान हीरे की ! और ऊपर से यह सजावट !

जब कूँची भाँडी जा चुकती थी तब हीरा ऊँट को ठोकर

मारकर खडा करता था। इसपर तो ऊँट और भी उग्र हो उठता था। अरडाना तो जोरो के साथ जारी था ही। उधर भीगडे और तरडा फेकना भी वेतरह शुरू हो जाता था। हो-हल्ला सुनकर गाँव के और भी लडके आ जमते थे। यह मव क्रिया हो चुकने पर हीरा ऊँट को गॉव के वाहर ले जाकर सवार होता था। एक आदमी ऊँट की गोडी दवाकर हीरा को सवारी करने मे सहायता देता था। हीरा सवार हुआ कि ऊँट फलॉग मारकर जोर से उछलता था।

उस समय हीरा का अभिनय तो कमाल का था। एक तरफ तो ऊँट को मानो वह किसी जिद्दी, अडियल, उग्र लडके को शात करता हो, इस तरह प्यार से सम्वोधन करता था, दूसरी ओर नकेल खीचकर ऊँट को रोकता था, तो तीसरी ओर ऊँट को छिपी ठोकर मारकर उसे दौडने के लिए उकसाता था। इन तीन परस्पर-विरोधी क्रियाओ का ऊँट पर तो एक ही असर पडता था। आखिर ऊँट तो पशु ठहरा, और सो भी गँवार पशु। तो फिर हीरा के दुलार के सम्वोधन को ग्रहण करना उसके मस्तिष्क के वित्ते के वाहर की वात थी। हीरा इसे जानता भी था, पर हीरा की भापा तो दर्शको के लिए थी, और ठोकर ऊँट के लिए। मोहरी खीचने का तात्पर्य यह था कि लोग समझे कि ऊँट हीरा के लाख शान्त करने पर उड जाना चाहता है और हीरा-जैसा उस्ताद चावुक-सवार ही इसकी पीठ पर टिक सकता है।

पर इसके माने यह नही कि हीरा कोई साधारण सवार था, या उसका ऊँट कोई साधारण ऊँट था, क्योकि हीरा ने

कई वार सुवह से शाम तक साठ कोस की मजिल आसानी से तय की थी।

और जितनी हीरा की चावुक-सवारी, उतना ही उसका भूगोल का ज्ञान। हीरा दो-चार मर्तवा तो पिलानी से अहमदा-वाद तक ऊँट पर ही जा चुका था। पर दो वेर जाने-मात्र से तो किसीको रास्ते का पूरा ज्ञान नही हो जाता। लेकिन हीरा की यह खूवी थी कि पिलानी से अहमदावाद पहुँचने मे कौन-कौन से गाँव से गुजरना पडता है, यह सब भूगोल सविस्तर पचास साल के वाद भी, उसकी जीभ के अग्रभाग पर जमा पटा था। सौ-सवा सौ कोस की परिधि मे तो ऐसा कोई शहर या गाँव नही, जिसके पहुंचने के रास्ते का ज्ञान हीरा को न हो। "यहाँ से दो कोस पर फलाँ गाँव, उसे वाँये छोड देना। फिर फलाँ जोहड आजायगा। उसके वाद एक कुँआँ, फिर एक ऊँची भर ..." यह हीरा का रास्ता वताने का तरीका था। हीरा जहाँ नही गया, वहाँ उसने सुनकर उस स्थान का भूगोल जिह्वाग्र कर लिया था। इसी तरह हीरा वहुश्रुत भी वन गया था।

पर हीरा के दिल मे एक तमन्ना थी। उस जमाने मे चोर-धाडियो का खूव उपद्रव था। हीरा चाहता था कि कभी उसकी धाडियो से मुठभेड हो। हीरा का ऊँट तो हवा से वाते करने-वाला था ही। उसकी वन्दूक भी हाजिर-जवाव। घोडा दवाने-भर की देर थी। लोग कहते थे कि हीरा का शरीर चाहे छोटा हो, पर उसकी वदूक कभी धोखा नही देगी। हीरा का दावा यह था कि वह एक चुस्त निशानेवाज़ है। पर उसने निशाने

मारने के लिए एक वडे घडे से, जो दो-तीन फुट लम्बा-चौडा हो, छोटे निशान का कभी उपयोग नही किया, और हीरा निशाना मारने के लिए भी तो दस-पद्रह कदम पर ही वैठता था। जव गोली की चोट से घडा चूर-चूर हो जाता था तव तो हीरा मुस्कता हुआ उठकर सवकी तरफ गर्व से ताकता था, मानो कहता हो—"वताओ है कोई ऐसा निशानेवाज !"

और एक दिन कुछ वदूकचियो से उसने वाजी मार भी ली। हीरा ने अपने साथियो को ललकार दी कि निकाले कोई लोहे के कडाहे मे से गोली। यह करतव न तो निशाने की अचूकता का द्योतक था, न हीरा की ताकत का प्रमाण। पर लोगो ने इस चुनौती को झेला। दगल मे हीरा की गोली तो दनदनाती हुई लोहे के कडाहे को छेद गई। औरो की गोलियाँ चिपटी होकर कडाहे से टकराकर गिर गई। प्रतिपक्षियो के चेहरे उतर गए। हीरा की छाती फूलकर सवा गज चौडी हो गई। कहनेवालो ने हीरा के विरुद्ध विश्लेपण करने की कोशिश की, पर इतना तो सावित हो गया कि हीरा की वन्दूक पूरी फरमावरदार है और मौके पर काम देगी। हीरा मे आत्म-विश्वास की कमी तो थी नही। ऊंट और वन्दूक, इन दो के जोर पर हीरा यह मिन्नते मानता था कि उसे डाकू मिले, और अन्त मे डाकू मिले भी, पर हीरा की हार हुई। लेकिन जिन दो चीजो पर हीरा का विश्वास था, उन्होने दगा नही दी। गीता मे कहा है

> अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विवम्।
> विवियाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पचमम् ॥

हर काम मे क्षेत्र, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पाँचवाँ दैव, ये पाँच हेतु होते हैं। मालूम होता है कि इन साधनो मे से कइयो ने तो हीरा के खिलाफ षड्यन्त्र ही कर लिया था कि उसका मान-मर्दन हो।

वात थी भिवानी के रास्ते की। कलकत्ते से एक सज्जन आ रहे थे, जो वीमार थे। उन दिनो पिलानी का रेलवे स्टेशन था भिवानी। ये सज्जन भिवानी उतरनेवाले थे और वहाँ से उन्हे पिलानी आना था। हीरा को भेजा गया उन्हे भिवानी से पिलानी ले आने के लिए। भिवानी ठहरा अग्रेजी इलाके मे। इसलिए विना पास कोई हथियार नही ले जा सकता था। हीरा ने लाख कोशिश की कि वन्दूक का पास मँगा लिया जाय, पर सब लोगो ने कह दिया—"क्या डर है, ऐसे ही चले जाओ।" वन्दूक हीरा की विश्वस्त सगिनी थी। वह उसे छोडकर अकेला नही जाना चाहता था, पर लाचारी!

हीरा विना वन्दूक के गया सही, पर उसका मन उन्मना था। हीरा ने पीछे वताया कि जव वह सवार होकर भिवानी की ओर चला, तव रास्ते मे उसे विना तिलक-तोदवाला ब्राह्मण मिला। खुले केशवाली स्त्री, सो भी विधवा, मिली। घडे वाले के पास घडा रीता था। सोनचिडी वॉये आ वैठी, गदहा दाहिने वोला। हरिन दाहिने से वॉई ओर निकल गया और एक सुनार भी तो मिला। पर कर्तव्यवश हीरा ने इन सवकी अवहेलना की।

हीरा भिवानी पहुंचा और उन सज्जन को सुवह गजरदम ऊंट पर पिछले आसन पर वैठाकर पिलानी की ओर चला।

हीरा का कहना था कि जव भिवानी से चला तव भी सारे अपशकुन हुए और वॉयॉ अग भी फडका। सुवह पौ फटते-फटते हीरा इन्दोखले जोहड के पास पहुंचा और उसने देखा कि सात ऊंट, उनपर चौदह जवान, सवके पास वडे-वडे लट्ठ, हीरा के ऊंट को चारो ओर से घेर रहे है। हीरा ने देख लिया कि दाल मे काला है। पर तो भी उसने ललकार कर डाकुओ से कहा, "माई के लालो, मशा तुम्हारी खराव मालूम होती है। क्या वात है ?" उन्होने कहा, "हमारे ऊंट खो गए है। उनकी खोजो के पीछे हम आये है।" हीरा को विश्वास नही हुआ। पिछले आसन पर वैठे सज्जन से हीरा ने कहा, "भरोसा एक ही है, वह है मेरा ऊंट। एड मारने-भर की देर है, फिर तो ऊंट उडेगा। आप सावधान होकर मेरी पीठ से चिपक जाइये और मै ऊंट को टिचकारी देता हूं। इस ऊंट को कोई नही पहुंच सकता।" पर पीछेवाले सज्जन ने कहा, "हीरजी, मै इतना वीमार हूं कि ऊंट ने जरा भी तेजी दिखाई कि मै धम से नीचे गिरूंगा। इसलिए मेरे प्राण जायं, इससे तो वेहतर है कि हम लुट जायं।"

हीरा ने देख लिया कि वस होनहार वलवान है। उसने अपना लट्ठ संभाला। ऊंट परसे कूदा और ललकारा डाकुओ को ही। हीरा का वित्ता ही क्या था। छोटा-सा शरीर। उसने लाठी का वार किया, एक-दो लाठी चलाई भी, पर दो-एक लट्ठ हीरा के सिर पर लगे कि हीरा जमीदोज हो गया। डाकू ऊंट ले गए।

हीरा के सदमे का क्या ठिकाना। वन्दूक पीछे रह गई। ऊंट धाडी ले गए।

जबतक हीरा जिन्दा रहा, तबतक इस रासे को वीर और करुण मे वर्णन करता ही रहा। इस कथा को कहते-कहते हीरा रो भी देता था। पर वह कभी थकता न था। क्या तमन्ना थी और कैसा हुआ अन्त ! हीरा का दिल टूक-टूक हो गया। हीरा फिर भी ऊँटो पर चढा, बन्दूक भी लटकाई, पर उसका दिल तो टूट चुका था। लोग भी तो ताना मारने से कहाँ बाज आते थे, पर हीरा को रह-रहकर पछतावा होता था "मैंने बन्दूक साथ क्यो न ली ? मैंने ऊँट को टिचकारी क्यो न दी ?"

इसके बाद हीरा कुछ ही साल और ऊँट पर चढा। वैसे भी साठी पार कर चुका था, और ऊपर से प्रतिष्ठा का भग। इस घटना के बाद भी ऊँटो पर कई बार भिवानी गया-आया, पर उदासी के साथ। जब-जब वह इन्दोखले जोहडे मे से निकलता था तो अपना बखान करते-करते वह रो देता था। वह लाख लोगो को समझाये, पर हीरा ने शिकस्त खाई, इस कथन को कौन मेट सकता था ! हीरा कवि न था, पर इन्दोखले जोहडे की तरफ मुँह करते ही उसका दिल कह देता था

मत नाव उधर लेजा माँझी, उस घाट को मैं पहचानता हूँ।
फूँकी थी मैंने वहीं पर चिता, अपनी मरहूम तमन्ना की॥

हीरा ने समझ लिया कि अब ऊँटो की सवारी मे कोई लुत्फ नही, और हीरा ऐसा आदमी भी नही जो अपने क्षेत्र मे स्वल्प श्रेष्ठ होकर रहे। वह तो था गर्वीला। सर्वश्रेष्ठ होकर ही रहना चाहता था। "अबतक तो जिस जमी पै रहे आसमा रहे।" इसलिए हीरा ने अब अपना क्षेत्र बदलना

निश्चय किया। धीरे-धीरे उसने ऊँटो का ममत्व और जिम्मा छोड दिया। एक रोज अचानक देखा गया कि हीरा ने दाढी और पट्टे दोनो सफा करवा डाले। धीरे-धीरे उसने योद्धा का स्वाँग छोडना शुरू कर दिया।

हीरा था बडा मितव्ययी। साठी पार करने तक तो उसके पास पाँच सौ की पूँजी जुट गई थी। एक रुपया माहवार की आमद पर भी वह पूँजीपति बन गया था। पर हीरा दिल का भी तो शाही था। इसलिए अब उसने अपना खजाना खाली करने का प्रण कर लिया। कान की बीरबली और पाँवो के चाँदी के कडो से उसने दान का श्रीगणेश किया। फिर तो धीरे-धीरे अपनी और पूँजी भी लुटाने लगा और अन्त मे उसने अपना सारा कोष खाली कर दिया। पर इस बीच मे तो हीरा की नौकरी एक रुपया माहवार से दो रुपया माहवार हो गई और इनाम भी समय-समय पर मिलता था। इसलिए हीरा फिर पूँजीपति बनने लगा। पर हीरा की तमन्ना अब केवल एक ही थी। वह थी कर्ण-सा दानी बनने की। हीरा की व्यवस्था और मितव्ययिता इस आला दरजे की थी कि उसके पास पचास साल पहले के अपने कपडे, कम्बल, चद्दर, अँगरखी, इनाम मे पाया हुआ शाल, हाथो की सोने की चूड—ये सब चीजे ज्यो-की-त्यो मौजूद थी। पचास साल पहले के दो-एक बेत भी ज्यो-के-त्यो सुरक्षित थे।

हीरा के रहने की एक कोठरी थी, जिसे हम हीरा की कोठरी कहते थे। उस कोठरी की लम्बाई छ फुट, चौडाई तीन फुट और ऊँचाई छ फुट थी। जगह का अभाव न था,

पर हीरा ने इसी कोठरी को अपना स्थायी स्थान बनाया और यह कोठरी क्या थी, गागर मे सागर था। व्यवस्था का एक जीता-जागता चित्र। इस कोठरी मे खूँटियो पर बाकायदा हीरा के हथियार लटकते रहते थे। एक खटिया थी। उसके नीचे हीरा के तमाम कपडे, तमाम पोशाके थी। न मालूम और कितना सामान था। हीरा ने अब धीरे-धीरे अपनी सारी चीजो का भी दान करना शुरू कर दिया था, और एक-एक करके हीरा ने अपनी तमाम बुगची मे से सब कपडो को वितरित कर दिया। सोने की तख्ती भी दान मे दे डाली। अब हीरा के पास पहनने-भर के कपडे रह गए।

इतना हुआ, पर हीरा की सजावट मे कोई फर्क नही आया। पहले योद्धा का स्वॉग सजता था और अब साधारण नागरिक का। पर वही पुरानी स्वच्छता, वही दिन मे दो बार नहाना, वही दो बार कपडे बदलना। कपडे धोने की कला तो हीरा को हस्तामलकवत् थी। इसलिए सफाई मे हीरा से कोई बाजी मार ही नही सकता था। धुलाई मे उसकी शोहरत यहाँ तक फैल गई थी कि जब कोई बेशकीमती शाल धुलवाना होता तो वह हीरा के सुपुर्द किया जाता।

तो हीरा ने फिर दूसरी बार कोष खाली करना शुरू किया, और अन्त मे सबकुछ दे ही तो डाला।

बुढापा तो आता ही जाता था। अब तो हीरा ने सत्तर पार कर लिया था। ऑखो की ज्योति कम हो चली थी। हीरा ने अब माला हाथ मे लेली। पर शाम को जब टहलने निकलता था तब कुछ तो सजावट रहती थी, हाथ मे माला

और वेत भी रहते थे। कन्धे पर एक स्वच्छ गमछा। दूसरे कन्धे पर गर्मियो मे धुली हुई कमरी पडी रहती थी और यह वताती थी कि हीरा के पास कमरी है, पर गर्मी की वजह से वह उसे पहनता नही है।

हीरा की पूँजी फिर वढने लगी और दान भी वढने लगा। दिन वीतते जा रहे थे। अव हीरा अस्सी पार कर गया। शक्ति धीरे-धीरे घटती जा रही थी।

उन दिनो की जव मै याद करता हूँ तो हीरा का एक ही चित्र मेरी आँखो के सामने आता है। स्वच्छ कपडे पहने, हाथ मे माला लिये, हीरा हवेली के गोखे पर वैठा है और 'राम-राम' कर रहा है। हीरा का अव किसी चीज मे ममत्व नही रहा। पर इन्दोखले जोहडे की धाड को हीरा भूल नही सका। और न भूला वह धोलिये ऊँट को। यदि कोई इसकी चर्चा कर देता था तो हीरा एक वेर माला को ताक पर रखकर उस पुराने रासे को रस के साथ वर्णन करते-करते उसमे तल्लीन हो जाता था। पर इस चर्चा को छोड उसे और किसी चीज मे ममत्व नही रहा, और माला तो उसकी दिन-रात चलती ही रहती थी। अव हीरा ने देख लिया कि अन्त आगया। ऊँटो की कई यात्राएँ हीरा ने की थी। अव उसकी जीवन-यात्रा का भी अन्त हो चला था, ऐसा जानने मे हीरा को कोई कठिनाई नही हुई। चौरासी साल तक हीरा ने अपने भौतिक शरीर मे वास किया। एक दिन हीरा ने अपना जीवित श्राद्ध करके फिर तीसरी वार अपना कोष खाली कर दिया और उसके कुछ ही दिन वाद चल वसा।

क्या शान की जिंदगी हीरा ने बसर की। हीरा का न कोई रासा है, न कोई महाभारत है, पर हीरा का शौर्य किस वीर से कम रहा। अभिमन्यु की शोहरत इसलिए फैली कि वह अकेला व्यूह मे घुस गया और वीरोचित मृत्यु का उसने आलिगन किया। पर हीरा भी तो अकेला चौदह से लडा। यदि जीता नही तो उसमे हीरा का क्या दोष।

और दान भी तो कर्ण से क्यो कम! कर्ण का महाभारत मे वडा स्थान है। और हीरा का कोई ग्रन्थ नही वना, इसी वुनियाद मे हीरा परख मे कम नही उतर सका। तीन वार हीरा ने अपना खजाना खाली कर दिया। यह उदारता कर्ण से किस वात मे कम उतरती थी? और हीरा की वफादारी तो लाजवाव। वडे-वडे श्लोको से भरे ग्रन्थो से चौधिया जाने से यदि हम इन्कार करे तो मै कहूँगा कि हीरा का शौर्य, उसकी दान-शूरता और उसकी वफादारी वेमिसाल चीजे है।

हीरा मर गया। उसकी छोटी-सी स्मृति हरपाणे जोहडे मे एक कुई और एक कोठरी के रूप मे आज भी खडी है। वडे-वडे स्मारको के सामने यह तुच्छ यादगार नाचीज है, पर इसके पीछे जो शान है, उसकी भी तो कोई वकत है। यदि इस यादगार मे जिंदा जवान होती तो वह कह उठती

यहाँ सोता है एक तुच्छ प्राणी,
जिसका शरीर था रूपे का,
जिसका सिर था सोने का,
और जिसका दिल था हीरे का।

जनवरी, १९४१

: १३ :

नाहरसिंह

नाहरसिंह एक छैल-छबीला राजपूत था। जवानी की उमंग मे जब वह बन-ठनकर दुपहरिया की चहल-कदमी करने गाँव की गलियो से गुजरता, तो वह समझता था कि उसके जैसा और कोई बाँका जवान दुनिया छानने पर भी मिलना दुर्लभ है। हालाँकि नाहरसिंह खूबसूरती से कोसो दूर था, बल्कि यह कहना चाहिए कि कुछ बदसूरती की तरफ ही लुढक थी, पर उसे इतना गर्व था कि वह अपने-आपको बेनजीर मानता था।

खूबसूरती की उसमे जो कमी थी, उसे वह सजावट के ढक्कन से ढाँक कर पूरा करने की कोशिश करता रहता था। खासी सफेद दो छिरगेदार धोती, कलीदार कोट, सिर पर साँगानेरी साफा, पाँव मे बूँटेदार चोबकारी का जूता, हाथ मे एक अच्छी-सी बरछी, कधे पर साँग। इस सजावट के साथ नाहरसिंह दुपहरी मे चमचमाते हुए नये जूतो मे गलियो मे अपनी शान और सजावट का प्रदर्शन करते हुए जब टहलने निकलता तो मानो कहता था—'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया?'

उस जमाने के निकम्मे आवारो का यही क्रम था कि सुबह को खाकर सो जाना और दुपहर मे उठकर चहलकदमी के लिए निकल पडना। यह कहना चाहिए कि ऐसे ठलुओ

की सुबह दुपहरी के बाद ही शुरू होती थी। नाहरसिह भी उन्ही आवारो मे से एक था।

नाहरसिह दाढी रखता था। सवेरे खा-पीकर दाढी पर जाडिया और मूंछ-पाटी कसकर खटिया पर सो रहता और दिन-ढले जाडिया खोलता था। जब जाडिया खोलता तो दाढी के बाल नियमबद्ध चारो ओर बिखर कर इस तरह खिलाव खाते थे, मानो देवदार की पैनी और दृढ पत्तिया अपनी नोको द्वारा चारो ओर मुँह फैलाकर दिग्दर्शन करती हो।

वह खिली हुई दाढी, वह सजावट और वह कुरूपता, इस सामग्री को लेकर जब नाहरसिह जमीन पर कदम रखता था तो शायद कहता था--"धरती परे सरक जा, छैला पॉव धरेगा।"

नाहरसिह से लोग डरते भी थे, क्योंकि वह शस्त्र-सुसज्जित, गैरजिम्मेदार और हर समय झगडने पर उतारू रहता था।

नाहरसिह अविवाहित था और जैसा कि ऐसे आवारा लोगो का क्रम होता है, उसकी एक विधवा से लाग-फॉस हो गई। गॉव के लोग इस बात से नावाकिफ नही थे। विधवा के कुनबे के लोगो को भी इस लगावट का ज्ञान था, पर किसकी हिम्मत कि नाहरसिह से कोई झगडा मोल ले!

कुदरत का नियम है कि क्रिया होती है तो प्रतिक्रिया भी होती है। इस नियम का कोई अपवाद नही होता। जहॉ एक गुडा होता है, वहॉ उसकी प्रतिद्वद्विता मे और गुडे भी पैदा हो जाते है। इस न्याय के परिणामस्वरूप नाहरसिह की प्रतिद्वद्विता मे एक और बॉका जवान निकल आया, और वह

था एक मुसलमान। उसका नाम था मोहम्मद खॉ। वह भी उसी विधवा के घर पहुँचता था। नाहरसिह को और उस विधवा के रिश्तेदारो को उस मियॉ का आना-जाना काफी अखरता था। रिश्तेदारो की हिम्मत नही पडी कि कुछ बोले, इसलिए आँख-मिचौवल किये बैठे रहे, पर नाहरसिह को मोहम्मद खॉ का यह खाका सहन नही हुआ। इसलिए उसने उसे चुनौती दी कि वह उसके सुरक्षित क्षेत्र से दूर रहे, वरना उसे भुगतना पडेगा। पर मियॉ को भी अपने बाजू और सीने पर भरोसा था। वह हटा नही। उसने नाहरसिह को दुत्कार बताई और अपना क्रम जारी रक्खा। नाहरसिह आग-बबूला हो उठा। अन्त मे नाहरसिह और उस रिश्तेदार ने मिलकर मोहम्मद खॉ की नाक काटने की योजना रची।

कई दिनो तक वे लोग इसी टोह मे रहे कि मौका मिले तो नाक पर चाकू की आजमाइश हो, और अन्त मे मौका मिल ही गया। एक रात को जब मोहम्मद खॉ उस विधवा के घर से निकलकर अपने घर जा रहा था, इन लोगो ने एक सुनसान जगह पर उसे घेर लिया और धर पटका जमीन पर। एक ने उसके पॉव पकडे और नाहरसिह उसकी छाती पर बैठकर लगा नाक काटने का प्रयत्न करने। पर चाकू भी उनको मिला तो ऐसा कि बिलकुल भूठा। लाख प्रयत्न करने पर भी नाक पर घाव नही मार सका। चिल्लाहट हुई, पर रात का समय और सुनसान जगह, इसलिए किसीने सुनी तो भी अनसुनी कर दी। इसी खीचातानी मे मियॉ साहब का गला मर्यादा मे कुछ ज्यादा दब गया और किस्सा समाप्त

हुआ किसी और ही दिशा मे। चाहा था नाक नदारद करना, सो तो दारद रही, और बदले मे जान नदारद!

नाहरसिह और उसका साथी दोनो धारणा के विपरीत परिणाम देखकर सन्न हो गए। कुछ देर दोनो झगडते रहे कि किसकी गलती हुई, अन्त मे नाहरसिह ने सफाई दी कि चाकू भूठा था, इसलिए गला दवाना जरूरी समझा गया। जो परिणाम हुआ, वह बेवसी के कारण। दोनो ने अपने-आप को लाचार माना।

जव नाहरसिह और उसके साथी ने देखा कि नाक तो रह गई और शिकार खत्म हो गया तो सवाल यह पैदा हुआ कि अब करना क्या? कुछ अपने जानी दोस्तो से सलाह भी की। अन्त मे कुछ योजना सोची गई और मुर्दे को उठाकर वे उसके घर पर चुपचाप खटिया पर सुला आए और सुबह क्या जाल गूंथना, उसका विचार करने लगे।

सुवह हुई। गॉव मे शोर मचा कि फलॉ मियॉ अचानक मर गए। आसपास के पडौसी किलेदार और थानेदार उसके घर पहुँचे। किसीको पता नही कि हुआ क्या। एक हट्टा-कट्टा जवान, जो कल तक मूँछो पर मूँछ-पट्टी चढाये फिरता था, आज यकायक अल्लाताला के घर कैसे पहुँच गया!

गॉव के ठाकुर का प्रतिनिधि किलेदार कहलाता था। उनका मुकाम भी पिलानी के गढ मे था। किलेदार राजपूत था और उसे नाहरसिह की करतूत का पूरा पता था। पर वह अपने जात-भाई को बचाना चाहता था। इसलिए उसने कुछ तिकडमबाजी रची। किलेदार ने थानेदार को अपना

अनुभव प्रमाण मे बताकर यह समझाया कि मियॉ को पाटडा गोह ने काट खाया और उस गोह के विप से वह मर गया है।

उस जमाने के लोगो का ज्ञान इतना अधूरा और बेसिर-पैर का था कि सभी लोग यह मानते थे कि गोह एक विपैला जीव होता है, यद्यपि अब तो लोगो को पता चल गया है कि गोह महज एक छिपकली की जाति है और विपैली नही है, लेकिन किलेदार की अक्ल और उसका अनुभव, यह भी तो एक वजनी चीज थी, जिससे गोह के पक्ष मे पल्ला और भी झुक गया। सब ने हॉ-मे-हॉ मिलाई। कुछ उत्साही खुशामदियो ने गोह के बिल का भी पता बता दिया। खोजी ने खोज निकालकर, गोह किधर से आई और किधर गई, उसका भी सारा किस्सा बताकर अपने इल्म की नुमाइश कर दी। गॉव के मूर्खो ने भी मतीरा-सा सिर हिलाकर कह दिया, "हॉ साहब, गोह ने काटा है।" गोह के विप से मृत्यु साबित हुई और मियॉ को कब्र के सुपुर्द किया। इस तरह खून का किस्सा एक बार तो समाप्त हुआ।

इसमे नाहरसिंह की कमबख्ती यह हुई कि मृतक मुसलमान था। हिन्दू होता तो जलाकर प्राण के साथ शरीर भी खतम हो गया होता, पर मुसलमान होने की वजह से प्राण तो गये, पर शरीर बाकी रह गया था। वह शरीर मृतक भी क्यो न हो, खून का साक्षी तो था ही। इसी साक्षी ने नाहरसिंह की बरबादी की।

मै उन दिनो पचीस वर्प का था। मुझे पता लग गया कि यह मियॉ का खून हुआ है, जो जान-बूझकर दबा दिया

गया है। नाहरसिह के चरित्र और उसके आवारापन से भी मुझे नफरत थी। गाँव मे उसकी और भी कई शिकायते थी। इसलिए एक खूनी इस तरह वेदाग वच निकले, यह मुझे अखरा। खून के वाद भी नाहरसिह की चहलकदमी उसी क्रम से जारी थी। "वही रफ्तार वेढगी जो पहले थी सो अव भी थी"— यह नाहरसिह का हाल था।

थानेदार निरा वुद्धू था और किलेदार शिवनाथसिह ने उसे और भी उल्लू वना दिया। पर उसके नीचे मुशी वनवारीलाल था। वह था वडा चलतापुर्जा। मुशी बनवारीलाल की जव-जव तरक्की की वात चली और जयपुर-सरकार ने उसे वडे ओहदे पर भेजने का प्रस्ताव किया, तव वह यह कहकर इन्कार कर गया कि—"मुझे इसी ओहदे से सतोष है। मुशीगीरी से विश्राम पाने पर मै काशीवास करूँगा और भजन-स्मरण मे ही जीवन व्यतीत करूँगा।" मुशी वनवारीलाल का दावा था कि वह एक सिद्धान्त का आदमी था। वह मानता था कि वह रिश्वत जरूर लेता है, पर जुर्म करनेवाले से नही। रिश्वत लेता था भुगतनेवाले से, और रिश्वत लेकर न्याय करता था, अर्थात् सजा पाने-योग्य को सजा और रक्षा-योग्य को रक्षा दिलाता था।

मुझसे कहा करता था, "वावूसाहव, मैने रिश्वत जरूर ली, पर भले का पक्ष करके। रिश्वत भी मै उसूलन लेता हूँ।"

लोग चाहे इस उसूल पर हँसे, पर वनवारीलाल को पूर्ण श्रद्धा थी कि इस काम मे ईश्वर भी उससे सहमत है।

इस तरह रिश्वत लेकर उसने वीस-तीस हजार इकट्ठे कर लिये थे। पर उसने अपनी वात निवाही। मरने से पहले उसने अपनी सारी सम्पत्ति दान-पुण्य मे खर्च करने के लिए ट्रस्ट को सौप दी और मुझे ही एकमात्र ट्रस्टी वनाकर चल वसा। ट्रस्ट का मजमून भी उसने अपने-आप ही लिखा था। उस मजमून का आरम्भ इस तरह था—"जिन्दगी का भरोसा नही और जमाना नाजुक है, इसलिए लिख दिया है मैंने यह वसीयत ।" यह 'नाजुक' जमाने की दुहाई देने की परिपाटी सदा से रही है, जो आज भी प्रचलित है। जमाना कव नाजुक नही था, यह मैंने अवतक किसी से नही सुना। अव भी वनवारीलाल के ट्रस्ट से पिलानी मे छात्र-वृत्ति दी जाती है। खैर, यह तो विपयातर हुआ।

पर वनवारीलाल, जैसा कि मैंने कहा है, था वडा चलना-पुर्जा। इसलिए थानेदार की अवहेलना करके मैंने उसे वुलाया और वताया कि मियाँ का खून हुआ है और यह सारी कार्रवाई वनावटी है। सजायापता को सजा न मिले तो फिर गुडेपन का कोई अन्त नही। मुशी ने कहा—"वात सच है। मैं रजा-मद हूँ। पर वाकायदा 'रपट' जवतक नही आती, तवतक मैं लाचार हूँ।" 'वाकायदा' यह भी एक सरकारी वेद समझना चाहिए। और 'रपट' का महत्त्व भी नही भूलना चाहिए। इसलिए 'रपट' का इन्तजाम करना पडा। 'रपट' होते ही मुशीजी की चक्की चलने लगी। कब्र खोदकर मियाँ की लाश को वाहर निकाला गया, डाक्टर वुलाया गया और मुर्दे का पोस्ट-मोर्टम हुआ। पोस्ट-मोर्टम मे सावित हुआ कि मियाँ

गला घोटकर मारा गया था। बस, खून साबित होते ही गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं।

उन जमाने मे कैदी को हवालात मे बन्द नही करते थे, बल्कि काठ मे दे देते थे। हवालात-जैसी फिजूलखर्ची से लोगो को और सरकार को बडी नफरत थी। इसलिए हवालात के स्थान पर काठ की संस्था प्रचलित थी। हवालात यह सनकी सरकार की सनक की निशानी मानी जाती थी। एक बडा लक्कड होता था, जिसके ऊपर-नीचे के दो पाट होते थे और बीच मे पाँव डालने के कई छेद। उन छेदो मे दोनो पाँव डाल-कर लक्कड का ऊपरी सिरा ताले से बन्द कर दिया जाता था, जिससे कैदी के दोनो पाँव उन छेदो मे इस तरह जकडबन्द हो जाते थे कि कैदी भाग न सके। एक-एक काठ मे पाँच-पाँच आदमी तक जकड दिए जाते थे। न जरूरत रहती थी हवालात की और न बेडी की।

जितने आदमियो को पकडा, उन सबको खुले मैदान मे पडे हुए काठ मे डाल दिया गया। यह तरीका बडा क्रूर था, पर उन जमाने का यही सनातन धर्म था। इसकी क्रूरता का तो किसीको ख़याल ही नही होता था। कैदी खुले मैदान मे काठ मे पडा रहता था। घरवालो और मिलने-भिटनेवालो को कोई मुमानियत नही थी। सारी चीज सीधी-सादी, कम खर्चीली प्रतीत होती थी। इसमे कोई ऐब है, ऐसा किसीने नही बताया, और जिसने बताया उसको ही ऐबी माना गया।

उस समय की प्रथा के अनुसार नाहरसिंह के दोनो पाँव काठ मे डाल दिये गए। काठ मे जकडबन्द नाहरसिंह के

उसके घरवाले रोटी खिला जाते थे। चिलम-तम्वाकू की आवभगत भी होती थी, जिसमे पुलिस और कैदी दोनो शरीक होते थे। गपशप तो चलती ही रहती थी। पर तो भी आखिर काठ तो काठ ही है। नाहरसिह तीन रात और दिन लगातार काठ मे पडा रहा। खाना भी उसको जब दिया जाता, तब पॉव काठ मे ही रहते थे। पाखाना जाने के लिए ही छुट्टी मिलती थी। जाहिर है कि ऐसी वेदना कडे-से-कडे दिल को भी हिला देती है।

नाहरसिह का भी यही हाल हुआ। नाहरसिह ने सोचा, आखिर कैदखाने मे इससे ज्यादा और क्या परेशानी हो सकती है। फिर कैद को ही दावत क्यो न दी जाय!

जब यह कष्ट असह्य हो चला तब अन्त मे नाहरसिह की मर्दानगी भी काफूर हुई। दो-चार थप्पड भी पडे और थप्पड पडते ही नाहरसिह ने सारा किस्सा स्वीकार कर लिया। अदालत मे मुकदमा चला। उन दिनो की अदालत मे 'सेशन' और 'जूरी' का झमेला नही था। 'नाजिम' अपनी बुद्धि से मुकदमे को समझ लेता था। गद्दी और मसनद के सहारे बैठकर इजलास होता था और नाजिम अपना फैसला सुनाता था। नाहरसिह का मुकदमा भी इसी क्रम मे हुआ। अन्त मे नाजिम ने फैसला दिया और नाहरसिह को जनम-कैद की सजा सुना दी गई।

जबतक हमे स्वतत्रता नही मिली, तबतक जयपुर मे फॉसी की सम्पूर्ण रोक थी। चाहे कितना ही बडा जुर्म क्यो न हो, किसी भी जुर्मी को तबतक फॉसी नही हुई। इसलिए

नाहरसिंह को भी जनम-कैद की ही सजा हुई। सजा होते ही उसे वहाँ से चालान करके जयपुर की जेल मे जनम-कैद भुगतने के लिए भेज दिया गया।

जेल मे पहुँचते ही नाहरसिंह की दाढी-मूँछ मूँड दी गई और कैदी के कपडे दे दिये गए।

नाहरसिंह ने स्तब्ध होकर नये भेष को धारण तो किया, पर उसे विश्वास नही हुआ कि वह नई दुनिया मे आ गया है। नाहरसिंह रो पडा। अपनी पुरानी जीवनी की याद उसे सताने लगी—"कहाँ वह मेरा बाँकापन, कहाँ मेरी दाढी, कहाँ मेरा जाडिया और कहाँ यह मुडन और यह नया भेष और ऊपर से पाँव मे वेडी।"

कुछ दिनो तक तो नाहरसिंह पागल-सा हो वैठा। भीतर-ही-भीतर आग धधकती थी। मुशी वनवारीलाल ने आश्वासन दिया था—"गुनाह मजूर कर लो, फिर सव तरह से तुम्हारी मदद करूँगा।" उसने धोखा दिया। मदद के वजाय यह जनम-कैद करवा दी। पर अव कोई सुननेवाला भी नही। जरा चीं-चपड करो तो मार पडती है। भीतर आग को वुझाने के लिए पानी था, वह भी आँसू होकर वह गया, इसलिए आग धधकती ही रही।

नाहरसिंह का रोना जारी रहा। वह शायर तो नही था, पर उसकी आहे शायरी का स्रोत वन कर वहने लगी—

आता है याद मुझको
गुजरा हुआ जमाना।

जब से चमन छुटा है
यह हाल हो गया है।
दिल गम को खा रहा है
गम दिल को खा रहा है।
आजाद मुझको कर दे
ओ कैदखाने वाले।
मैं बेजबां हूं कैदी
तू छोडकर दुआ ले।

पर आजाद कौन करे! नाहरसिंह जब रो-रोकर थक गया तो उसका उद्वेग शिथिल हो चला। गम दिल को खा गया और दिल गम को खा गया। जबॉ बेजबॉ हुई। अब रोना बन्द हुआ।

कैद के आश्रय से पहले मन मारकर, फिर धीरे-धीरे सहिष्णु होकर, समन्वय करने लगा। पिछले जमाने को भूलने लगा। "सबका चहचहाना" और चिडियो का चहचहाना यहाँ भी था। उसीसे गॉठ बॉधी।

जब नाहरसिंह जेल मे कुछ शात हुआ तो मै उससे मिलने गया। मैंने कहा—"नाहरसिंह, आखिर तुमने एक प्राणी की हत्या की है, अब तुम्हे सजा भुगतनी है। उसे रो-रोकर क्यो भुगतते हो? खुशी-खुशी क्यो न भुगतो! बहादुरी इसीमे है कि ईश्वर ने जो भेजा, उसे सिर चढाकर मजूर करो। यहाँ भुगत लोगे तो आगे की छुट्टी है।" नाहरसिंह को शाति मिली, और जेल के जीवन से मैत्री करने लग गया।

जेल के सुपरिटेडेट मेरे मित्र होते थे। मैंने उनसे बात करके नाहरसिंह को कुछ सुविधाएँ भी दिलवा दी। जेलर

की सिफारिश से नाहरसिंह को गलीचे बुनने का काम सिखाया जाने लगा। नाहरसिंह उद्योग मे कुशल निकला और जल्दी ही वह गलीचा बुनना सीख गया। इसके अलावा और भी दो-चार हस्त-कौशल के उद्योग उसने सीख लिये। नाहरसिंह दक्ष हो गया और इस लायक बन गया कि वह जेल के बाहर आकर अच्छी तरह अपनी जीवन-यात्रा सँभाल सके। मगर नाहरसिंह था पूरा उपद्रवी।

कुछ काल के बाद जेल के एक वार्डन से झगडा करके उसकी नाक को वह दाँतो से चबा गया। सम्भव है, मनोवैज्ञानिको की कल्पना के अनुसार नाहरसिंह का नाको से कोई नाता रहा हो, या फिर कोई ग्रह ऐसा पडा हो, जो नाहरसिंह को नाको की ओर आकर्षित करता रहा हो। पर वार्डन की नाक की घटना ने इतना तो प्रमाणित कर दिया कि नाहरसिंह नाक ढूंढता फिरता था। मियाँ की नाक न सही तो वार्डन की ही सही। नतीजा यह हुआ कि नाक चबा जाने के अपराध मे उसकी जेल की मियाद बढ गई। पर नाहरसिंह की औद्योगिक शिक्षा तो जारी थी ही। इस तरह साढे बीस साल तक नाहरसिंह जेल मे रहा और जब जेल से बाहर निकला तो सौम्य होकर, कई उद्योगो मे कुशल होकर ही निकला।

जबतक जेल मे रहा, नाहरसिंह से मेरा सम्पर्क जारी था। इसलिए जेल से निकलते ही वह मेरे पास आया। फटे कपडे पहने था, पाँव मे बीस साल तक बेडियाँ पडी रहने की वजह से कदम छोटे हो गए थे और दाढी भी नदारद थी।

नियत्रण के आने के कारण उसका पुराना औद्धत्य चला गया था और वह विनम्र हो गया था।

मैंने पूछा, "कहो नाहरसिह, कैसे हो? अब क्या करना है? कमाकर तो खाना ही है, फिर सोच लो, क्या करोगे?"

नाहरसिह ने कहा, "बाबूजी, मैं बीस साल तक महाराज माधोसिहजी का मेहमान रहकर आया हूँ, अब किसी छोटे-मोटे का मेहमान नही रह सकता। हाथी पर चढकर गदहे पर कैसे बैठूं?" उन दिनो जयपुर के महाराजा माधोसिहजी थे। मुझे उसकी चुटकी पर हँसी आई। नाहरसिह की ओर मेरा आकर्षण तो था ही। इसलिए मैंने उसे अपनी शिल्पशाला मे विद्यार्थियो को गलीचा बुनना सिखाने के लिए मास्टरी के पद पर तैनात कर दिया। नाहरसिह ने अच्छे-अच्छे गलीचे बनवाये और कई लडको को कारीगर बनाकर कमाने-खाने लायक बना दिया।

धीरे-धीरे अब नाहरसिह पर बुढापा सवार होने लगा। आँखे कमजोर हो चली। नाहरसिह फिर मेरे पास आया और बोला, "मुझमे अब यह गलीचे का काम नही होगा, कुछ और काम दीजिये। आँखे काम नही दे रही है, और बुढापे की कमजोरी भी आ रही है।"

चिडावा जानेवाली सडक के दोनो ओर मैंने वृक्ष लगवाये थे। ऊँट और गाये उन्हे बीच-बीच मे खाकर नुकसान पहुँचाती थी। इसलिए उनकी रखवाली के लिए एक चुस्त रक्षक की जरूरत थी। मैंने पूछा, "नाहरसिह, वृक्षो की रखवाली का काम करोगे?" "हाँ, यही तो राजपूत के लायक काम है।

अवतक तो आपने मुझे छोटा काम सौप रक्खा था। राजपूतो का काम तो रक्षा करना है, और वह मुझे पसन्द है।"

दूसरे दिन नाहरसिह रखवाली के लिए सजकर आया। अपनी सफेद दाढी पर कलप चढा ली और वही पुरानी साँग और वर्छी, पीठ पर ढाल, कमर मे तलवार और कटार लटकाकर खासा अच्छा साफा वाँधकर वह हाजिर हुआ। देखता हूँ, साथ मे एक टट्टू भी लाया। मैंने पूछा—"यह क्या है?"
"यह टट्टू मैंने वारह रुपए मे खरीदा है। बिना सवारी के राजपूत शोभता नही।"

दूसरे दिन टट्टू पर चढकर नाहरसिह रणवाँका राजपूत वनकर रखवाली के लिए सफर पर निकला। टट्टू पूरा टीघण था, इसलिए नाहरसिह जव सवार होता तो उसके पाँव करीव-करीव जमीन को छू जाते थे। लोग हँसकर मुँह फेर लेते थे, क्योकि नाहरसिह के मुँह के सामने हँसना अव भी खतरनाक था।

नाहरसिह के ससार की गाडी इस तरह चलती जाती थी, और वह वुड्ढा भी होता जा रहा था।

पर इसी वीच मे एक अद्भुत घटना घट गई। नाहरसिह पर इश्क का भूत सवार हो गया—"सारे आजारो से वढकर इश्क का आजार है।" नाहरसिह भी इस आजार के सपाटे मे आ गया। एक जाटनी थी। वह भी अपने पति की हत्या करके नाहरसिह की तरह जयपुर-जेल मे जनम-कैद काटकर आई थी। नाहरसिह को अपने लिए एक साथी की आवश्यकता महसूस होती थी, और जव यह जाटनी मिली तो उसे

वह जोडी पसन्द आ गई। नाहरसिह ने झटपट उससे शादी कर ली। जाटनी नाहरसिह से उमर मे छोटी थी, पर गुणों मे उससे पूरा मुकाबला करने वाली थी। शादी के कुछ दिनो बाद ही उस जाटनी के पराक्रम का नाहरसिह को पता चल गया। जाटनी ने नाहरसिह को पीटना शुरू कर दिया। वह 'नाहर' और 'सिंह', जिसका गॉव मे तहलका था, अब उस जाटनी के सामने भीगी बिल्ली हो गया। नाहरसिह घर के बाहर तो अब भी शेर था, पर घर के भीतर था पूरा बिल्ली। नाहरसिह को जो तनख्वाह मिलती, वह सारी-की-सारी जाटनी अपने पल्ले मे बॉध लेती थी। नाहरसिह सिवा खाने-पीने के नकद से पूरा वचित हो गया।

जरदार मरद नाहर घर रहो या बाहर,
बेजर का मरद बिल्ली, घर रहो या दिल्ली।

नाहरसिह 'बेजर' हो गया और बिल्ली भी हो गया। पर नाहरसिह की शान और शौकत घर के बाहर वही थी, जो पहले थी। उसमे कोई भी कमी नही हुई। अब नाहरसिह और बुड्ढा हो चला। एक दिन आकर बोला—"सरकार, अब तो पेशन कर दीजिये। घोडे पर अब नही चढा जाता।" मैने कहा—"अच्छा, पेशन ले लो और 'राम-राम' करते रहो।"

नाहरसिह अब पेशन मे जीवन व्यतीत कर रहा है। ८६ साल का हो गया है। जब-जब पिलानी जाता हूँ, नाहरसिह मुजरा करने आता है। वही दाढी और मूंछो की सजावट, वही ढाल, तलवार, कटार, वही साँग और बर्छी। केवल एक

परिवर्तन हुआ है। नाहरसिह के एक हाथ मे बर्छी है, तो एक हाथ मे माला—वह एक तरफ अपनी शान की अकड निभाता है, और दूसरी ओर 'राम-राम' भी जपता रहता है।

नाहरसिह एक अविस्मरणीय व्यक्ति है, जिसे भूलना असम्भव है।

: १४ :

मुझसे सब अच्छे

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन देती है। जब-जब मैं घर पर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहाँ पहुँची होगी। कहाँ से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाजा कौन लगाये! भारत का पश्चिमी सागर यहाँ से करीब ६०० मील होगा, किन्तु उसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र ही समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के प्रदेशों, पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को जीवन देती हुई यह वायु यहाँ पहुँची होगी, और अब यहाँ के लोगों को सुख देती हुई, अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शान्त भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है, फिर भी अखबारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती! हवा से मैंने कहा—"हवा, तुम संसार का इतना उपकार करती हो, किन्तु तुम्हारी सेवा की खबर मैं अखबारों में तो कभी नहीं पढ़ता!

तुमको चाहिए कि जो थोडी-सी वात करो, उसको वढा-चढाकर अखवारो मे छपा दिया करो।" हवा ने कहा—"कौन-सा अखवार अच्छा है ?" मैने कहा—"हिन्दी-अग्रेजी के वहुत से अखवार है। सभी मे अपनी प्रशसा छपाया करो।" हवा ने पूछा, "क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक मे भी तुम्हारे यहाँ के अखवार जाते है ?" मैने कहा—"वहाँ तो नही जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा—"तुम पक्के कूप-मडूक हो, तुम्हारे लिए थोडे-से लोग ही ब्रह्माण्ड है। मैने तो प्राणि-मात्र की सेवा का व्रत ले रक्खा है, और मेरा अखवार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहाँ सब खवरे अपने-आप पहुँचती है—भली-वुरी सभी वाते वहाँ छपती रहती है। किसी वात का वहाँ पक्षपात नही । किसीके कहने से वहाँ कोई खवर नही छापी जाती। सच्ची खवरे वहाँ स्वय छप जाती है। मै तुम्हारी तरह मूर्ख नही, जो विज्ञापनवाजी की दलदल मे फँस जाऊँ। नि स्वार्थ भाव से प्राणि-मात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो, तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा-की यह स्पष्टोक्ति मुझे वडी वुरी लगी। मै, और हवा जैसी जडवस्तु का अनुकरण करूँ ! मन मे आया कि एक व्याख्यान ही झाड दूं। अखवारो मे तो उसका अतिरजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु हवा को तो "लगन लागी प्रभु पावन की," उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहाँ ! वह तो 'कामये दु खतप्ताना प्राणिनामर्तिनाशनम्' गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते मे एक ऊँट महाशय अपनी थकान उतारने के लिए हाथ-पॉव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तग आकर, क्रोध मे, ऊँट से कहा—"तुम बडे गँवार हो, ज़रा भी तमीज नही। पशु ही जो ठहरे! हम लोग जिन रास्तो से होकर निकलते है, उनमे गरीब मनुष्य भी किनारे खडे होकर झुककर हमे प्रणाम किया करते है। हम जब-जब टहलने जाते है तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते मे चलनेवालो का नाकोदम कर देते है। तुमने हमे झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उलटा धूल उछालना शुरू कर दिया! इसीसे मालूम होता है कि तुम गँवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊँट ने अपना व्यायाम करना तो बन्द कर दिया, पर वह मेरी बात सुनकर खिल-खिलाकर हँस पडा। बोला—"तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है, उसने तुम्हे कुछ नही कहा, किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता मत करना! बस, यह समझ लो कि मुझसे तुम बहुत गये-बीते हो।" मैंने कहा—"ऊँट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है।" ऊँट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी, आँखो मे तेज चमकने लगा। अपने नथनो को फटकार कर उसने कहा, "क्या केवल मनुष्य-देह मिलने ही से मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है? क्या औरगजेब, नादिरशाह, महमूद गजनी, हत्यारा अब्दुर्रशीद या कस, दुर्योधन

और ऐसे-ऐसे अनेक अपनेको मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते है? और उन्हे मनुष्य-देह मिल गई, तो किस मुंह से अपनेको हम पशुओ से ऊंचा समझते है? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को हजार बार धिक्कार है।

मै कुछ ठण्डा पड़ गया। मैने कहा—"भाई ऊंट, उन पापी मनुष्यो की वात न करो। वे नर-राक्षस थे, किन्तु मै तो ऐसा नही हूं। मै तो अपने लिए कह सकता हूं कि अपनी समझ में, मै तुमसे कही अच्छा हूं।" ऊंट फिर हंस पड़ा। कहने लगा, "अच्छा, जरा वता तो दो, तुममे मुझसे कौन-सी अच्छी वात है?"

मै सोचने लगा, क्या वताऊं? आखिर मुझमे कौन-कौनसी अच्छी वात है, जिसका मै गर्व कर सकूं? अत्यंत साहस करके मैने दवी ज़वान से कहा, "अच्छा तो देखो, तुम जानते हो मै त्यागी लोगो से कितना प्रेम करता हूं, खादी पहनता हूं, यह क्या कुछ कम है?" ऊंट ने गर्व के साथ कहा, "इसमे गर्व करने की क्या वात है? मुझे देखो, मै तो कुछ भी नही पहनता।" मैने कहा, "और सुनो, मै भोजन भी सादा खाता हूं, मिर्च-मसाले नही खाता।" ऊंट ने कहा, "अच्छा त्याग किया! मुझे तो देखो, केवल सूखी पत्तियाँ चवाकर रह जाता हूं।" मैने कहा, "मैने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊंट ने कहा, "क्यो झूठा अभिमान करते हो? मैने तो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश ही नही किया, सो मै तो वाल-ब्रह्मचारी हूं।" मैने कहा, "मुझमे ईर्ष्या-द्वेष अधिक नही, झूठ वहुत कम वोलता हूं, सो भी अनजान मे, रोष भी कम आता है।" ऊंट

ने कहा, "इसमे कौनसी वडाई की वात है ? मुझमे न ईर्ष्या
है, न द्वेष, और न क्रोध, झूठ तो जीवन मे कभी बोला ही
नही।"

मैने कहा, "मुझमे सेवावृत्ति है।" ऊंट ने कहा,
"इसका नमूना तो हम रोज देखते है। कल एक पीला बछडा
रो रहा था, क्योकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते
हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन,
सुनते है, तुमने एक घोडे को भी दौड कराकर मार डाला।
शहर के तमाम घोडों मे इस वात की चर्चा थी। उनकी एक
विराट् सभा हुई थी, उसमे मृतक के प्रति सहानुभूति और
तुम्हारे प्रति घृणा-सूचक प्रस्ताव भी पास किये गए थे। न
मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊंट, घोडे और बैलो को कष्ट
दिया है। कितने पशुओ को लंगडा किया है। कितनो को अपनी
मोटर के धक्को से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने
चले हो ! मुझे देखो, न कपडे पहनता हूं और न जिह्वा-स्वाद
का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूं, फिर
भी बेत, कोडे और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगो
की सेवा करता हूं। इसीको सेवा-व्रत कहते है। तुम लोगो से
सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुमको कीमती वस्त्र
चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर,
रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर,
सफर करते हो तो सतो सामान एव सुख-सुविधा की सामग्रियाँ
साथ चलती है और तुम्हारे लिए बोझा ढोना पडता है हमको।
पडता है तो हम लोग भूखो मरते है, पीने को पानी नही

मिलता, किन्तु तुम्हारे वगीचो की फुलवाड़ी को सरसब्ज रखने मे ही गाँव के अनेक वैलो की शान्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्राय. ब्रह्मचारी रहते है, किन्तु सुनते है, तुम्हारा मनुष्य-समाज इसमे वड़ा पतित है। शर्म की बात है कि इस पर भी तुम अपनेको हमसे श्रेष्ठ समझो !"

ऊँट की वात मेरे हृदय मे चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी, "मूर्ख, तू ऊँट से भी गया-वीता है।" पास मे खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा, "ऊँट सच कहता है।" तव मैंने कहा—"प्रभो, मुझे ऊँट जितना आत्म-वल दो !"

सहसा आकाश मे विजली चमकी। मेघ गरजा। सुनने वालो ने सुना। कहनेवालो ने कहा :

> **मो सम कौन कुटिल खल कामी !**
> **जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,**
> **ऐसो निमकहरामी ।**
> **मो सम कौन कुटिल खल कामी !**

किसीने कहा, कहनेवाला और सुननेवाला दोनो एक है। किसीने कहा, यह अन्तर्नाद है। मैंने चिल्लाकर कहा, "मुझसे सव अच्छे है।"

मार्गशीर्ष, १९८४